

महाभारत का अर्थ



वाग्देवी प्रकाशन
बीकानेर

श्री १०८ श्री गणेशाय नमः
श्री १०८ श्री गणेशाय नमः

डी. डी. हर्ष



वाग्देवी प्रकाशन
सुगन निवास चन्दन सागर
बीकानेर 334 001

। रमण हृष
1 व 10 नन्दवन
श्रीपासनी हाउसिंग बोर्ड जोधपुर

प्रथम संस्करण 1989

मूल्य मत्तर रुपये मात्र

आवरण अमित भारती

मुद्रक साखला प्रिंटर्स

सुगन निवास चन्दन सागर
बीकानेर 334 001

ISBN 81 85127 23-9

Mahabharata Ka Artha

by D D Harsha

Rs 70 00

महाभारत मानव की जययात्रा

मानव के स्वभाव में विजय एवं विभूति प्राप्ति की आकांक्षा है। सामान्य व्यक्ति बिना साधना सस्कारों के इनका परित्याग नहीं कर सकता। वैसे भी अम्युदय एवं निश्चयस का संदेश देने वाली संस्कृति के उपामक को अम्युदय से घणा करने की आवश्यकता नहीं है। महाभारत जैसा पावन ग्रंथ इन्हीं दोनों सत्त्वों की मानव सुलभ व्याख्या विश्लेषण का अनुपम महाकाव्य है। महाभारत को न जानने पर भारत को जाना नहीं जा सकता, यह विद्वानों की मायता नितांत सत्य है। जीवन के प्रत्येक प्रवाह और दिक्काल को उचित मार्गदर्शन इस महाग्रंथ से प्राप्त होता है। मानवीय दुर्बलताओं के उभार से पतन एवं उन पर समय के अकुशल प्रयोग से उत्थान की गाथाओं का इस ग्रंथ में धारम्भार वणन किया गया है।

आज के युग में महाभारत की विशालकायता से मयभीत व्यक्तियों की संख्या का बहुमत बढ़ता जा रहा है। समय, साधना, नीति, तपश्चर्या, ज्ञान, व्यवहार शुद्धि एवं भक्ति का यह पावन ग्रंथ अपनी ही धरती पर यदि अपेक्षित आदर न पा सके तो समाज का प्रेरणास्रोत ही सूख जायेगा। जीवन मूल्यों के प्रति आदर पर्याप्त घटा है, फिर तो और भी घट जायेगा।

महाभारत के सिद्धांत और कथानकों को नये परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने की महती आवश्यकता थी जिसे विद्वान लेखक प्रो. डी. डी. हर्ष जी ने कुशलतापूर्वक सम्पन्न किया है। उनके विचार मानव की जययात्रा के रूप में प्रगट हो रहे हैं। इनका मननपूर्वक अध्ययन मानव की जययात्रा को मानव की अनन्ययात्रा का रूप देने में समय है। लेखक विद्वान के साथ साथ यदि

साधक और तपस्वी हो तो शब्दों में गरिमा एवं तेजस्विता की प्रभा दर्शित होती है। यह आनन्द की बात है कि प्रो. हर्ष एक उच्चकोटि के साधक हैं।

'महाभारत का अर्थ' की भाषा प्रासादिक है। गाथा केवल गाथा नहीं है, उस के अन्तर्गत से सिद्धांत व्यक्त रहा है। सिद्धांत का पदे पदे परिष्कार कराने वाला यह ग्रंथ साहित्य की एक धरोहर के रूप में स्वीकृत होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। जययात्रा के प्रसंग दिग्भ्रमित समाज को अतीत का पुण्य स्मरण कराते हुए नूतन दिग्मालोक को सुखानुभूति कराने में समर्थ है, ऐसी सबसमय परमेश्वर से अभ्यथना है।

भारत माता मन्दिर
हरिद्वार

स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरी
निवृत्त जगद्गुरु श्रीकराचार्य ज्योतिष गण्ड

अनुक्रम

मानव का स्वरूप	9
मानव जीवन में मूल्यों का संघर्ष	40
मानव की जययात्रा	103

‘न हि मानुपात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित्’

मानव का स्वरूप

सावकालिक महाकाव्य अमर और आलोकप्रद कायदृति

पराशर नान्न महर्षि वेदव्यास द्वारा त्रिरचिन ‘महाभारत’ एक सावकालिक महाकाव्य है जिसमें मानव हृद्गुहा में सन्निविष्ट असीम और अचिन्त्य शक्ति के नानाविध विकास का साहित्य सागर बत लहराना है। सावकालिक से अमिप्राय उसकी सनातन संप्रेरकशीलता और निरंतर प्रामगिवता से है।

मानव मेधा जनित गायद ही ऐसी कोई कलाकृति होगी जिसका प्रभाव मानव के पार्थिव और पारमार्थिक जीवन एवं साहित्य पर इतना व्यापक, गहरा और दीर्घकालीन रहा है जितना कि महाभारत का। इसमें मानव मात्र को नूतन आलोक देने की सामर्थ्य आज भी उबर है। मूलतः इसीलिये महाभारत आज तक एक अमर एवं आलाकप्रद काव्यदृति के रूप में समाहृत रहा है और सदा स्वीकार्य रहेगा।

संस्कृत साहित्य में ही नहीं अपितु विश्व वाद मय में भी महाभारत का सवधा अनूठा और अनुपमेय स्थान रहा है। मानव सृजनात्मकता ने इस काव्य को इतने चाव से सवारा है कि यह कला प्रसाद युग युगांतर की प्रतिमाया को निरंतर नूतन नूतन प्रेरणाया और चिंतनानुभूतिया से प्रभावित, प्राणवत् और रसाचित बनन वाला अक्षय स्यात सिद्ध हुआ है। प्रतिभा-सम्पन्न रसिकों के लिए ही नहीं बनन जन-साधारण के लिए भी महाभारत मानव निर्माणकारी एवं चरित्रोद्गारी ऐस ऐस आरयानमूलक और सधजन साध्य प्रेरक आदश प्रस्तुत करता है जिहे हृदयङ्गम करके मानव नयी सूक्ष्म सम्पन्नता आर साहसिकता से अपने आपका समृद्ध करके अपने स्वयं के और परिवार, समाज तथा राष्ट्र के जीवन को विकासोन्मुखी पूणता के अनंत पथ पर सोत्साह आगे चलाने में उद्यमशील एवं सहायक हो सकता है। साथ ही, वातचक्र की अनुकूलता और प्रतिकूलता से अप्रभावित एवं अविचलित रह कर वह अपने जीवन जगत् में जय यात्रा का माथक एवं सफर सम्पादन कर

सयता है ।

मानव की जय यात्रा एव भारत की आत्मा की
अखिल छवि का अमृत ग्रंथ राजः

इसी उद्देश्य से भले ही इस महाकाव्य की रचना न की गई हो, परंतु इसका प्रेरक और प्रकाश प्रद प्रभाव देश, काल और परिस्थितियों की सीमाओं को चीरता हुआ आज भी प्रवाहमान है । यह अपराजय भाव ही, महाभारत में मानव की जय यात्रा का महामंत्र प्रतीत होता है ।

वीरव पाण्डव युद्ध की समाप्ति के पश्चात् जब समूचा भारत—विशेष कर पूव में मनीपुर से लेकर पश्चिम में द्वारका तक—घोर विनाश और विध्वंस की भयावह चोत्वार भूमि बन चुका था तथा जनचेतना क्रुद्धोत्थ युद्ध की प्रलयकारी भीषणता की स्मृति मात्र से आतंकित और व्यथित हो उठी थी, तब महर्षि व्यास ने पूणरूपण समाहित मन, ध्यानालोकित निमल बुद्धि और स्वस्थ सजगशीलता में, अतुल मानवीय महिमा से सम्पन्न, इस 'महाभारत' नाम वाले एकलक्ष श्लोका के अद्भुत ग्रंथराज की वायात्मक सृष्टि की । इस भीषण भ्रातृ संग्राम के पूर्वकात् से लेकर उसके अंतिम क्षण तक, और तदुपरांत भी, पराशरात्मज व्यास इस युद्ध के साक्षी मात्र ही न थे, किंतु उन्होंने युद्ध को न हाने देने हेतु परामर्श मूलाक भरसक किंतु असफल प्रयत्न भी किया था । इतना ही नहीं, जब अश्वत्थामा और अर्जुन ने सब विनाशकारी ब्रह्मास्त्रों का प्रयोग किया था, तब शीघ्र ही व्यास ने अपने महनीय ब्रह्मतेज से वैयक्तिक बीच बचाव कर उस क्षैत्रीय परिणाम का निवारण किया था । युद्ध जय भयकर ताण्डव के ये साक्षी थे, उनके अनुसार युद्ध के अंत समय में कुल मिलाकर, दोना पक्षा के, 11 वीर ही जीवित बचे थे । इस अपार घन और जन की अत्यंत असहनीय एव हृदय विदारक क्षति से उत्पन्न अपार ग्लानि से जन जन का चिद्गगन जब मूक और मुखरित करुण हाहाकार और पराजयवाद से आभ्रांत था तब तपोनिधि महामानव वेदयाज्ञ न सुनला सरिता सरस्वती की सन्निधि में पूणमनोयोग की प्रज्ञा पीठ पर आरूढ़ होकर जिस साहित्योदधि का स्रजन किया, वह 'महाभारत' मात्र एव महाकाव्य या ग्रंथ रत्न ही नहीं है । यह एव गुणात्कारी और अभिनव युग का श्री गणेश करने वाला आत्मसाक्षात्कारी सनातन साहित्य है जो मानव को गौरवमय, स्वामिमानो और स्वतंत्र जीवन जीने की प्रेरणा देता है जो मानव जीवन के उच्चतम और मूल्यवान् आदर्शों की दार्शनिक परतल पर साहित्यिक प्रतिष्ठा करता है, और जो मानव मात्र को अपराजयवाद की धुन पर अदम्य पुरुषार्थ का दिग्गम सगीत गुना पर परम नारायणत्व की सीधम और सहज अभिव्यक्ति का मानसोचित

संदेश देता है। निस्सन्देह, महाभारत में भारतीय आत्मा की अखिल छवि का अद्भुत दर्शन सुलभ है।

महाभारत एक अद्भुत ग्रन्थ है—किस ?

ज्ञानगंगा के जटाघर वेदव्यास का यह विराट काव्य, जो माणव के नानाविध निकृष्टतम से श्रेष्ठतम रूपा की विशद और विस्तरेषणात्मक, पूण और प्रभावकारी छवि प्रस्तुत करता है, मात्र इसलिए अद्भुत नहीं है कि भारतीय प्रज्ञा, संस्कृत साहित्य और विश्व वाङ्मय की सबसे बड़ी रचना है, जो जन-चेतना में 'शत साहस्र संहिता' के नाम से प्रतिष्ठित है, मात्र इसलिए भी नहीं कि पावतीनन्दन गणेश जैसे लेखक होत हुए भी वेद व्यास को 'महाभारत' के सज्जन में पूरे तीन वर्ष का तम्या समय लग गया, इसलिए भी नहीं कि प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रमेशचन्द्र दत्त ने इसे एशिया की कल्पनाशील मृजनात्मकता की महानतम कृति कहा है, मुख्यतया इसलिए भी नहीं कि हमारे मनीषियों ने महाभारत को इतिहास, धर्म, ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, संस्कृति, कला, राजनीति, रण-युद्ध रचना, सामरिक विज्ञान, दौत्य नीति, दर्शन, अत्यात्म आदि अनेक एवं जीवनोपयोगी विविध विषयों का रसोदधि एवं विरचनोद्देश कहा है, मात्र इसलिए भी नहीं कि देशी और विदेशी विद्वद्जनो द्वारा नानाविध आलोचित एवं आलोचित महाभारत एवं बहुचर्चित ग्रन्थ है, परन्तु मूलतया इसलिए कि महाभारत एक ऐसा सावगालिक और सावभौम महाकाव्य है जो जीवन के सभी रूपा की पवित्रता का सागोपायन प्रतिपादन करने के साथ-साथ एक विशेष दृष्टि से माणव जीवन की श्रेष्ठतमता और पवित्रता का उच्चतम दार्शनिक घोष एवं साहित्यिक उद्घाटन करता है। कला की यह महान् कृति इसलिए भी अद्भुत है कि मानवीय विषयों की विविधता, आचार की विशालता, प्रतिपादन की आद्यत अविति एवं रसमयता, दर्शन की रोचक समग्रता एवं गभीरता, शैली की प्राञ्जलता एवं साहित्यिक प्रसादमयता, भावा की अभिव्यक्ति की संपूर्णता, संव्यय कला मयता आदि की समन्वित कसौटी पर इससे स्पर्धा करने वाली एवं तुलनीय अन्य कोई कलाकृति नहीं है, अद्भुत इसलिए भी कि यह काव्य सभी रसों की पृष्ठभूमि में नानाविध शैलियों में मानव की इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति की निरत्य नयी श्रीढा का दार्शनिक धरातल पर विस्तरेषणात्मक-विधि एवं समन्वयात्मक दृष्टि से इतना विपुल साहित्य प्रस्तुत करता है कि हम इसे मानव विकास तथा माणव विनाश के नैतिक सोपानों का सिद्धांत व दृष्टांत सागर कह सकते हैं। वस्तुतः महाभारत मानव स्पर्ध एवं मानव प्रकृति से प्रसूत वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के भद्रातिभद्र चिन्तनकथा

एक उत्तमोत्तम चारित्रिय लक्षणों में केवल धुंदातिशुद्ध भाव, सकीर्ण मनावृत्तियाँ एवं स्वायत्तरता की परावाप्ता का समगताया सूक्ष्म एवं स्पष्ट चित्रण करने वाला विश्वसाहित्य का प्रथम और एकाकी महानायक है। अद्भुत इसलिए भी कि मानव जीवन के सब-स्तरीय सरल से सरल तथा गभीर में गभीर मानस वाक्य एवं विचारशील व्यक्तियों का, साममर्मा एवं साहित्य-सज्जनों नित्यतूतन प्रेरणा देने वाले गहन मातृकीय एवं सनातन तातुआ से ओतप्रोत होने के कारण 'महाभारत' परवर्ती भारतीय साहित्य की नाना विधाओं के अक्षय स्रोत की गरिमा से गौरवाणित होकर आज भी भारत के अन्तःकरण पर छाया हुआ है। इस-इस कारण से भी अद्भुत कहा जा सकता है कि यह भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के उच्चतम आदर्शों का रत्नाकर है तथा इसमें चित्रित एवं विश्लेषित तर्जवी पात्र यहाँ के जासमुदाय के लिए प्रेरक, पथ प्रदर्शक एवं अनुकरणीय नायक मान्य हुए हैं।

दो मूढ य एवं मननीय विद्वु और हैं जिनके कारण महाभारत का अद्भुत ग्रंथ कहा जा सकता है। प्रथम तो यह कि महाभारत एक अपूर्व और अनुपम भाव्यवृत्ति है, ऐसी वृत्ति जो भारतीय साहित्य में न ता वेद-यास के पूर्व काल में कभी सृष्ट हुई, और, न ही व्यासोत्तर काल में इस की जोड़ का कोई साहित्यिक सजन हुआ है। अस्तुत महाभारत सस्कृत वाङ्मय की एक निपट तूतन विधा का महाकाव्य है जो श्रुति परम्परा में सवथा वितग होते हुए भी श्रुतिसार को आत्मसात् किये हुए है। यह उत्तर वैदिककालीन प्रारम्भिक ब्राह्मण कठोरता के विरुद्ध मानव धर्म का प्रातिवारी जयघोष है, परम्परा की वह कठोरता जो बहु सग्यक शूद्रों और स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार प्रदान नहीं करती। उन लाखों-करोड़ों नर नारियों के लिए, जो अनुदारवादी वेदपथियों की अवनता के शिकार थे, महाभारत नया वेद बनकर आया। यह स्मृतिशास्त्रों की परम्परा का शुभारम्भ था। क्या कर फिर ऐस प्रात दृष्टा की अभिनव युग निमाणकारी वृत्ति को अद्भुत न कहा जाय? दूसरा माननीय विद्वु यह है कि महाभारत के भीष्मपथ में पाण्डवशिरोमणि अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण ने जो समाधान गीत गाया वह विश्व साहित्य में ब्रह्मविद्या का सर्वोत्तम रघोपदेश—समन ऑन द चेरियट—है, जो कुरुभेन के समराङ्गण में साटापन एवं भ्रातिजय तनावग्रसित अर्जुन को दिया गया था, और जो 'श्री मद्भगवद्गीता' के नाम से जगद्धिरयात है। वृत्तिय पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि श्री मद्भगवद्गीता क्षेपक है प्रक्षिप्त है, इसे महाभारत का अन्तिम और सहज जस नहीं माना जा सकता। कुछ भारतीय विद्वान भी इस पाश्चात्य मत का समर्थन करते हैं। जिह अतीन्द्रिय एवं अवाङ्मनसोचर

अध्यात्मदर्शन, वा जो गुरुगम साधना द्वारा अनुभव गम्य हैं, त्रिचिन्मात्र भी बोध है, वे गीता को महाभारत की प्राणेश्वरी घोषित करते हैं क्योंकि ब्रह्मविदा की दृष्टि में महाभारत मूलतः गीता के गायक का गौरव गान है। निस्सन्देह श्री भद्रभगवद्गीता का महाभारत में यही स्थान है जो मन्त्रित्व और हृदय का मानवदेह में है। गीता जीवन के परमसत्य और उन शाश्वत मूल्यों का सिद्धांततः प्रतिपादन करती है जिन्हें समूचा महाभारत विविध आभ्यासा उपान्यासों तथा ऐतिहासिक घटनाओं एवं दृष्टान्तों के साहित्यिक चरित्राङ्कन द्वारा सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान करता है। जत गीता को यदि महाभारत से निराला दें तो महाभारत निष्प्राण एवं निरर्थक वाक्य गव से अधिक कुछ नहीं रहता। उस स्थिति में यह शताब्दियां पूरे काल की आलोचनात्मक मन्त्री दग्ध हो गया होता। गीता क्षय नहीं, महाभारत की आत्म मजीवनी है अनन्य और जविनाज्य।

प्रसंगवश यह निबन्धन किया जा सकता है कि इस कथन के सत्य का दर्शन हम भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के द्वितीय गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स के उस कथन से भी होता है जिसमें उन्होंने हीरे मोतियों से जड़ित 'महाभारत' रूपी मञ्जूषा में दृश्य 'बाहिनूर' रूपा गीता' को ब्रिटिश साम्राज्य से भी अधिक मूल्यवान् ठहराया। सर चार्ल्स रिक्लिन्स द्वारा भगवद्गीता के अंग्रेजी में अनुवाद के 'इंट्रोडक्शन' में वारेन हेस्टिंग्स ने इन प्रसिद्ध एवं भविष्य बोधक शब्दों में लिखा 'जब ब्रिटिश साम्राज्य विस्मृति की खाह में गुम हो जायेगा, जब इसकी सम्पदा और समृद्धि के स्रोतों का स्मरण तक नहीं रहेगा, तब भी यह धर्मग्रन्थ और इसमें लिखित उपदेश सत्तार के लाखों करोड़ों मनुष्यों को प्रेरणा प्रदान करते रहेंगे।' यह मानव मात्र के व्यक्तित्व का स्वरूप निर्देशन कराने वाला वाक्य दण्ड है।

वस्तुतः पानगगा के भगवत् पराशररत्नज वदव्यास द्वारा प्रणीत 'महाभारत' भारतीय ऋतुभरा प्रज्ञा का सावकालिक ग्रन्थ सम्राट है जो मानव मात्र को, अपने व्यक्तित्व एवं राष्ट्र के सम्यक् तथा सर्वाङ्गीण विकास हेतु नित्य नयी प्रेरणा, उमंग और दृष्टि प्रदान करने की सामर्थ्य से ओतप्रोत है। यह मानव मात्र का सौभाग्य है कि अतीत का भाति आज भी 'महाभारत' के महापुरुषों, आदर्श चरित्रों, दिव्यात्माओं एवं सद्दृष्टान्त सिद्धांतों की अमर कथाएँ व चर्चाएँ घर घर में बड़ी उत्सुकता, प्रेम व जिज्ञासा के साथ कही व सुनी जाती हैं। पर कथन श्रवण के साथ सर्वाधिक आवश्यकता इस बात की है कि इस तेजामय पलायन की प्रेरणाओं को सही अर्थ में आत्मसात् करके पूणमनायोग से मानव अनुसंधान मूलक, ऊँचाई और सृजनात्मक

उपयोग कर। दृगी म, धाम दृष्टि म, भारतीय गरुडति की उपासना, आध्यात्मिकता की सिद्धि तथा भारतीय राष्ट्र के अन्तुष्टय का सत्य गुम्फा है। गीतिका स्तर पर मही उपासना व सिद्धि गाता मात्र व जीवाम, 'सत्यमेव जयते तातम' व सत्य से उज्ज्वलित और समाहित, वास्तविक जय यागा की प्रेरण पय प्रसन्नता वा सजती है। इगलिए ता स्वय वेदव्यास व महाभारत को 'भारत का पालिताग वरा' गिसम सत्यमन्त्र्य जन मानवीय 'याय, स्वातन्त्र्याचित जीवन और नर न नारायणत्व व अन्तुदय की मानसत्वाय विराधी अयाय पूण, स्वातन्त्र्य हारी अगाधुपीयता और नर म तासत्य की वलिधेदी पर मानयना को ग्राह्य करा वाली गतिगा पर अतिम विजय की गाया वा प्रेरण यशोगा है।

तता गयमुशीरयत महाभारत वा मगलाचरण

जीवन म जयागिक्षा किस गही हाती ? पराजय तिम अमीप्सित ? प्राणीमात्र म पराजय वा भाव हीनता और रोपमय मूक विद्रोह को उत्पन्न करने वाला होता है, और जय की स्थिति म उतें स्वाभिमान एव श्रेष्ठता के गुण बोध की तुष्टातुभूति होती है। मानव जीवाम भी जयागय की द्विविध स्थिति में गौरव ग्वानि की द्वन्द्ववस्था म से गुजरता है, ऐसा सामान्य अनुभव प्राय सभी वा है। मनुष्य की विलक्षणता इसम है कि वह जीवाम आन वाली चुनौतिया वा समयाचित धैय व साहस, अडिग आस्था और आत्म विश्वास की सनातन मामध्य से सामना करे। विजय की मुकुट मणि एस हो उद्यमशील मनुष्या के हाथ म काल स्वय वाकर रस देता है। इस पुरुषाथवाहिनी लक्ष्य परायणता एव उद्यमशीलता म ही अपराजेयता वा भाव पय विलता है जा मानव के जीवन को मुदित आर सुरमिन विदे गिना नही रहता। इस पय म सजन की सजीवनी है, पूणत्व की परमता है, प्रेम की प्रवाहमयी पावनता है। मानव जीवाम इस पुण्डरीक के सम्यक प्रस्फुटन विरसन हेतु महर्षि व्यास ने हमे मगलाचरण के रूप म एक शास्त्र सम्मत, सुगजन सेवित, ऋषिजन पोषित एव स्वानुभव से पुष्ट और प्रमाणित महामन्त्रमय श्लोक दिया है जिसके सत्याथ की परमानुभूति मानव मात्र के लिए वल्याणाथ अपेक्षित है।

मगलाचरण के इस पुण्य श्लोक को व्यास जी ने महाभारत के प्रत्यक पय के आरम्भ मे रगा है। व्यास जी ने ऐसा यमो किमा, मानव की यह जिज्ञासा नितात स्वाभाविक ही है ! हरक पय वा एक ही मगलाचरण है, अधरस यही। तनिक मात्र भी कही अतर नही ! सम्भवत वेदव्यास को यह अभिप्रेत था कि महाभारत वा परायण करते समय इस मन्त्र वा चार-

बार मगल गान न केवल इस 'महाभारत' के शुभारम्भ में ही किया जाय अपितु महाभारत के प्रत्येक पक्ष के पूर्व भी इसी मगलाचरण का गान एवं श्रवण, श्रद्धायुक्त आदर-बुद्धि एवं आत्मिक प्रेम भाव से, वेद मन्त्रों की तरह पावन लहरी में किया जाय तथाकि इस महामन्त्र में ही महाभारत के सत्याथ का उद्घाटन करने की सारभूता शक्ति पुण्डलित है। सतही स्तर पर तो यह श्लोक एवं पञ्च नमस्वारमय आदेश मात्र है, परन्तु इसके गभ में मानव जीवन की नियति (मोक्ष) एवं पूणावस्था का सुन्दर निरूपण है। तदनन्तर मानव-स्वरूप का निधारण है, मनोजयी उत्तमता की स्थापना है, जीवन साधना का ऋम वर्णित है, लक्ष्य सिद्धि एवं साधक का ममबोध इंगित है। ऐसे महत्त्वपूर्ण श्लोक का पठन श्रवण करने के साथ साथ तदन्तगत अर्थ को हृदयङ्गम करके ही महाभारत का स्वाध्याय, पारायणादि करना श्रेयस्कर है। अतः यह अत्यन्त उपादेय है कि हम 'महाभारत' नामक विराट् काव्यकलाकृति में उपलक्षित मानव को जय यात्रा के स्वरूपा सुसंधान में इस महिमामय मगलाचरण के सम्यक् गान के साथ ही प्रवेश करें। व्यास दृष्टि में जय यात्रा मोक्ष यात्रा का पर्याय है।

नारायण नमस्कृत्य नरचैव नरोत्तमम् ।

देवी सरस्वती व्यास ततो जयमुदीरयेत् ॥

इस मगलाचरण में नारायण, नर, नरोत्तम, वाग्देवी सरस्वती और महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके (नमस्कृत्य) 'जय' याने महाभारत को 'उदीरयेत्' पढ़ें, ऐसा आदेश है। यह मगलाचरण का सरलाय है, एवढम साफ़। परन्तु शोध बुद्धि वाले जिज्ञासुओं और विचिन्तु गहरी अनुसंधानात्मक दृष्टि वाले विद्वद्जना को सीधे साधे शब्दाथ मात्र से सतोष नहीं होता, वे श्लोक के मर्म का साक्षात्कार चाहते हैं। अतः वे अपने आपको प्रश्न करते हैं और गहन मौन की चरमावस्था में वे मगलाचरण के सत्याथ का दर्शन कर लेते हैं। प्रश्न हैं यह 'नारायण' कौन है जिन्हें प्रथम नमस्कार करना चाहिए? नमस्कार क्या किया जाये? इसी प्रकार, ये 'नर' और 'नरोत्तम' कौन हैं और इन्हें नमस्कार करने का क्या प्रयोजन है तथा प्रणाम किस भाव के साथ किया जाये? 'देवी सरस्वती' को नमस्कार करने की मन्त्रणा का क्या रहस्य है? सनाधिप विचिन्तयत तो यह है कि इस श्लोक में 'व्यास' को भी नमस्करणीय माना है क्या यह उचित है कि महाभारत के रचयिता वेदव्यास अपने महाकाव्य के मगलाचरण में स्वयं अपने को नमस्कार करने हेतु भावी वाचनजारा का आदेश प्रदान करें? व्यास कहे कि व्यास को नमस्कार करो। स्वयं को नमस्कार कराने की बात में क्या

युक्तिमयता है? इस सम्बन्ध में, यह सन्देह कि मंगलाचरण क्षपक हेतु ध्येक विज्ञाना का रचिकर जीर प्रासगिक लगता होगा। इन प्रश्ना के सम्बन्ध म टीकाकारा का मत वैविध्य मननीय ह।

गीता प्रेस, गारखपुर द्वारा छ महाकाय खण्डो मे प्रकाशित, हि दो अत्रुवाद सहित जा 'महाभारत' आज उपलब्ध है, उसमे मंगलाचरण सम्बन्धी अथ और विचार से यह पकट होता ह कि 'नारायण' और 'नर' भारतीय अध्यात्म चिन्तन म 'नित्य सखा' के रूप म माय हैं, वे प्राचीन काल म बदरिकाश्रमवासी प्रसिद्ध श्रीनारायण और श्रीनर थे और द्वापर काल मे वे ऋषि ही श्रीकृष्ण और अर्जुन के रूप म अवतरित हुए, अखिल 'महाभारत' इन दोनो मानव शिरोमणि तेजोमय सत्यकाम नायका की आत्मजयी प्रतिष्ठा का काव्य गान है। नारायण जीवन का अंतिम लक्ष्य है, नर इस लक्ष्य सिद्धि की साधना वा आदि बिन्दु। श्रीकृष्ण नारायण नर रूप मे हैं जो मानव जीवन की श्रेष्ठतम स्थिति एव परमपूणता का मिद्ध स्वरूप है, वह मानव मात्र के प्रति निस्त्राघ मैत्री और वरुणा का जीवन्त आदर्श है, वह सब को अपनी ही आत्मा म और जपन को प्राणी मान की आत्मा मानने और जानन वाला समदर्शी योगेश्वर है, परात्पर ब्रह्म है तदथ ही वह सवात्तयामी रूप से सब क हृदया म विराजमान है। श्रीकृष्ण मानव रूप म सवजयी है जय स्वरूप है, जय की प्रतिष्ठा है। अजुन नारायण का नित्य सखा 'नर' रूप है जिसमे नारायणत्व के सम्यक् प्रकटीकरण की पूण क्षमता है, इस प्रकटीकरण मे नारायण (समत्व बोध) का सतत सानिध्य, साहचर्य और सायुज्य अपक्षित है और सच्चे अथा म 'नर' वही है जो इस सायुज्य हेतु सधरु, सममी और उद्यमशील हान क लिए कटिबद्ध हा जाये, अर्जुन, महाभारत मे, ऐसा ही नर है। अत वह मानव मात्र का पौरुषमय प्रतिनिधित्व करने की योग्यता से सम्पन्न एव धीर वीर नर है। वह उस साधना दशन का ज्वलन्त उदाहरण है जिसका प्रतिपादन समय समय पर हमारे ऋषिजना सिद्ध आचार्या एव गुरु जनो ने किया है तथा जिसका सर्वोपरि लक्ष्य मानव जीवन का चतुर्विध अम्युदय एव मानव व्यक्तित्व म पूणता के प्रकाश वा प्रकटीकरण सर्वजन-हिताय करना होता है। समयत इसी दृष्टि से महर्षि व्यास ने नारायण का पूण पुरुषात्तम क रूप मे तथा नर को पूणता के सधरु पयिक क रूप मे नमन करा का कहा है। इ दोनो का नमस्कार करने क साथ साथ 'नरोत्तम को भी नमस्कार करने के लिए व्यासजी न स्पष्ट कहा है। यह नरात्तम कौन है? नरात्तम यह नर है जो शास्त्र और गुरु द्वारा उपदिष्ट और स्वानुभव द्वारा पुष्ट साधना के माध्यम से जीवन्त म निरंतर उन गुणा भावा और श्रेष्ठ

आचार विचारा का आपादन अजन करने में निरत रहता है जिससे अधमत्व का विनाश और उत्तमता का विकास सतत होता रहें। वह साधना दशा का अपने जीवन का वास्तविक अंग बना लेता है जिससे वह समस्त मानवीय गुणों का तेजामय और प्रियाशील पुत्र बन जाता है। आत्मीयता उससे व्यावहारिक जीवन में यथेष्ट मर्यादा और माधुर्य का संचरण करती हुई उस नर में उत्तम 'नरात्तम' के स्वयंभू परंतु अनुदघोषित पद पर प्रतिष्ठित कर देती है। नरोत्तम मानवीय जीवन की उस अ-पातम भूमि में उन्नत हो जाता है। जहाँ उसका व्यक्तित्व नारायण की चिन्मय अतण्डना में समरस हो जाने की स्थिति में प्रवेश पा जाता है। जीवन में लय नाना रूपा और नामों से उत्पन्न भेद बुद्धि इतनी शिथिल और क्षीण हो जाती है कि 'नरोत्तम' व्यष्टि के सारे भेदों और पृथक्ताओं में परे समष्टिरूपा सृष्टि के साथ अपना सम्यक् तादात्म्य स्थापित कर लेता है। जब नर का व्यष्टि भाव, साधना के सातत्य से, सृष्टि के समष्टि स्वरूप में विगलित और घुलमिल जाता है, तब वह नर ही नरोत्तम हो जाता है। व्यष्टि समष्टि का समुच्चय रूप नरोत्तम अथ नर और नारायण के बीच की दूरी को, जो अभी तक भेद-भयावस्था के कारण दिखाई दे रही थी, पाटने में समथ हो जाता है। नर में नारायणत्व के प्रकटीकरण की सर्वोच्च भूमि नरोत्तम भाव का मानवीय जीवन है।

भारतीय अध्यात्म साधना का सार सबस्व यही है कि 'प्राक् शरीर विभाशणात्' शरीर के छूटने से पहले ही नर में नारायणत्व प्रकट हो जाये, क्योंकि मूलतः नर नारायण का शाश्वत अंश है, नर ही नारायण है—'जीवा ब्रह्मैव द्वितीयो नास्ति'। नरात्तम, नर और नारायण का मध्य सेतुबन्ध है जिसकी निर्मिति निम्न मानवीय और आत्मीय जीवन द्वारा ही सम्भव है। भीष्म पितामह और धर्मराज युधिष्ठिर महाभारत के नरोत्तम हैं। अतः नारायण का नमस्कार है क्योंकि वह परम पुरुष परात्पर ब्रह्म मानव मात्र का साध्य है, नर को इसलिए नमस्कार है कि वह साध्य सिद्धि हेतु कटिबद्ध साधन एव वृत्त सकल्प है। नरोत्तम निस्सन्देह नमस्करणीय है क्योंकि वह मानवोचित नारायणत्व प्राप्ति की साधना-वी-पूणता का जीता जागता उदाहरण है। अतः नारायण नर में है जैसे वृक्ष बीज में, नरोत्तम नर का नारायण में उत्थान है जैसे बीज का वृक्ष में विकसन। इस प्रक्रिया में जैसे बीज के फटने पर ही वृक्ष का उगना और बढ़ना सम्भव है, वैसे ही नर की अहंकार व अज्ञान-जड़ व्यष्टि रूप व्यक्तित्व की परिच्छिन्नताओं के टूटने-बिखर जाने पर ही नारायणत्व अर्थात् व्यष्टि समष्टि से परे पूण अपरिच्छिन्न स्व स्वरूप का उसे सम्मग बोध होता है, परिच्छिन्नता के विगलन की सर्वोच्च

तिमल भूमिका का नाम ही नर म नरोत्तम है। सारत, तारायण, नर और नरोत्तम एक ही अलण्ड विमय तत्ता के विरूप हैं। यह वेदांत की ऋषिप्रणीत भूमात्रस्था है जहाँ साध्य साधक और साधना एकरूप हो जाते हैं। यह माणव जीवन की परिपूर्णता है। इसे नमस्कार है। प्रत्येक मनुष्य का यह वाञ्छनीय दायित्व है कि वह यह नमस्कार करे, जिसका अर्थ तारायण द्वारा नर को विये गये आह्वान में ह—वीन की तरह पृथ्वी माँ की प्राकृत गोद में प्य कर नर निरह्वारत्व की निद्वन्द्व और निमलावस्था प्राप्ति की आराधना द्वारा नारायण के आह्वान की मनाग्नि में अपने स्वत्व की आहुति देकर नारायण का जाता है।

व्यास प्रणीत इस मंगलाचरण में, नमस्कार करने के आदेश की ओट में, मानव जीवन की नियति का, मानव के सही स्वरूप का, स्वरूप सिद्धि के माग में आने वाले सघर्षों एवं कटकाकीर्ण अपरोधों का और उन पर विजय प्राप्त कर लेने वाले नरोत्तम का द्वाभक्षण हमें स्पष्टतया होता है। यह दशन हम तभी हो सकता है जब व्यास की दृष्टि हमें मिल जाये। व्यास की दृष्टि हम तभी प्राप्त हो सकती है जब हम 'सजय' बन कर उनके समक्ष विनत हो। सजय के अन्त वरण में अगाध श्रद्धा, समय और तत्परायणता का निवास है। श्रद्धा मयम समन्वित सजय भाव के मानव हृदय में अकुरन अम्युदय होने पर व्यास दृष्टि का उन्मीलन मानव जीवन में हो जाता है। व्यास गुरु हैं, कवि हैं, वर कवि हैं। अतः व्यास की नमस्कार करना परम कवि तथा ब्रह्मविद् गुरु का नमस्कार करना ही है। गुरु वह है जो 'गु अर्थात् गुप्त 'रु' अर्थात् रूप का प्रकट कर दे। नारायण नर में गुप्त निवास कर रहा है, व्यास गुरु उस गुप्त रूप को नर के तिमल नेत्र में प्रकट कर देने की सामर्थ्य से विभूषित है। नमस्कार से व्यास का प्रसन्न करने का माग इस मंगलाचरण में अभिप्रेत है। व्यास भी परिपूर्ण महामानव होने से, तारायण ही है। जीवो ब्रह्मैव द्वितीयो नास्ति' की विमय अद्वय अवस्था में विराजित होकर स्वयं व्यास व्यास को नमस्कार करने के लिए कह रहे हैं। यह तो अद्वैत ही भाषा का सौन्दर्य है जो व्यास की काव्य गरिमा को प्रकट करता है।

काव्य गरिमा, काव्य सत्य, और काव्य सौन्दर्य मानव हृदय में स्थित तित्य 'धुब्ध बुद्ध मुक्त 'अहम्' का ही काव्य रूप में प्रकटीकरण है। यह प्रकटीकरण स्वयं होता है मानव के स्वरूप बोध की रसमयता में। 'रसो वै स', नारायण ही रस रूप है, रस सागर है, रस सार है। यह रस आत्म रस है जो स्वतः स्वरूप-व्यनि अर्थ से समन्वित वाक्य निरूपण में प्रकटित और प्रवाहित होता है। यही वाक्य प्रवाह सरस्वती है जो रस-सर का शब्द भूति प्रदान करके

उस जगत में प्रवासित करती है, और इसीलिए 'देवी' की सजा स अगिहित की जाती है। दिव्, दिवाकर, दिवस आदि शब्द प्रकाश-वाचक शब्द है। अतः व्यास रूपी गुरु द्वारा उत्प्रेरित और उपदिष्ट होकर 'नरोत्तम' की साधना से नर जब नारायण रूप हो जाता है तब वह रसराज स्वयं भगवती श्रुति अथात् सरस्वती बन कर काव्य रूप ग्रहण करता है। महाभारत मूलतः रसराज नारायण के महारास का लीला काव्य है।

अतः देवी सरस्वती को नमस्कार करना भगवती श्रुति माने वेद का नमस्कार करना है, सर्वथा समोचीन है। इस पंच नमस्कार के प्रसाद रूप से महाभारत (जय) में नर का आत्मप्रवेश सुगम हो जाता है। इस से नर-हृदय में नारायण के प्रति श्रद्धा के जागरण का साहित्यिक आह्वान उत्पन्न होता है। और महाकाव्य के गूढ अर्थ व प्रयोजन में 'नर' मति सहज गति कर सकती है। अर्थात्, जैसा कि 'महाभारत तात्पर्य त्रिणय' के प्रणेता महारू मध्वाचार्य आनंदीय ने लिखा है, वह प्रत्येक व्यक्ति पर लागू होता है। वे अपने इस ग्रंथ में कहते हैं कि

एवमध्यात्मनिष्ठ हि भारतः सर्वमुच्यते ।

दुर्विनेयमत सर्वे भरितः तु सुरैरपि ॥

2 149 म सा ि

महाभारत का सब लोग अध्यात्मनिष्ठ ग्रंथ मानते हैं जो तदर्थ ही दयताया के लिए भी 'दुर्विज्ञेय' है। अतः महाभारत के पारायण करने के पूर्व इन पाँचों को—नारायण, नर, नरोत्तम, सरस्वती देवी और वेद व्यास को—प्रेमादर भाव से नमस्कार कर लेना चाहिए। यह है व्यास दृष्टि। इसका फल है जय (मोक्ष) प्राप्ति, पारायण का अर्थ है बार बार जन्म की प्राप्ति।

वस्तुतः रास रासेश्वररसोदधि नारायण ही महाभारत रूपी वाङ्मय मंदिर की चिन्मय मूर्ति है जिसकी प्राण प्रतिष्ठा स्वयं दृष्ट्वायन व्यास ने आत्मसिद्धि के महामंत्र से की है।

सदानन्द यति ने 'महाभारत तात्पर्य प्रकाश' नामक अपनी टीका में महाभारत को 'जय' नामक विद्या या समस्त अविद्याका के नाशक ससार-जयी ग्रंथ कहा है—'ससार जयिनः ग्रंथ जमनाम'। महाभारत में जो कुछ है, घटित और वर्णित रूप में, वेद-व्यास उस सब के न केवल दृष्टा मात्र रहे हैं परंतु वे उसके साथ शुरू से आखिर तक जुड़े हुए भी रहे हैं। कौरवाधीश धृतराष्ट्र के प्रधान सचिव सजय व्यास के पट्ट शिष्य हैं जिन्हें वह अतिमानवीय दृष्टि प्राप्त है जिससे वे सब देख, सुन, कह सकते हैं। व्यास वस्तुतः दोनों पक्षों के अधिकारियों के लिए सम्माननीय एवं मान्य हैं, दोनों पक्षों से इनका धारा

सम्भव है- परामश दाता और आश्रय के रूप में। इसलिए उन्हें महाराज्य में वर्णित छोटे से छोटे और बड़े से बड़े पान का अन्तरतम में देखने, परस्पर व समयने का पूरा अन्तर मिला है। कमाल तो यह है कि महाराज्य के अनेक पात्रों का चित्रण उन्होंने जिस पट्टना और कौशल से किया है उससे व्यासजी मानवता के श्रेष्ठ उदाहरण, मनुष्यमन की समस्त विधाओं के पारंगत और महान् मनोविद् तथा मानव की गौरव गरिमा के प्रातिकारी प्रतिष्ठापक के रूप में प्रकट होते हैं।

व्यास न मानव को मध्यश्रेष्ठ प्राणी घोषित किया है उनकी यह मान्यता है कि मानव पराधम बन कर समाज और स्वयं के जीवन को दुःसाक्षर, तनावग्रस्त और नरकतुल्य बना सकता है तथा नरात्तम बनकर समाज, संस्कृति और स्वयं के जीवन को सत्यनिष्ठ, स्वामिमानी और सुखमय बना सकता है। इतना ही नहीं, यह मानवेन्द्र और महामानव बन सकता है 'सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय च' अतः महाभारत मानवीया नियति की विषमता की चिन्ता करने वाला महत्त्व का पाठ्य है, जो मानव जीवन की परिपूर्णता हेतु विरचित है। यही 'जय' का मूल अभिप्राय है।

व्यास दृष्टि में मानव का स्वरूप

महर्षि व्यास का यह वाक्य प्रसिद्ध और विद्वद्जन चर्चित वाक्य है कि 'मनुष्य से श्रेष्ठतर और अश्रेष्ठ नहीं है, यह मैं एक गुह्य सत्य कह रहा हूँ'—

गुह्य ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि

नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ।

शांति पर्व 180/12

यह एक गुह्य सत्य है—'गुह्य ब्रह्म इदम् । तत् ब्रवीमि उक्ते म कहुता हूँ, प्रकट करता हूँ । 'नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं'—मनुष्य से श्रेष्ठतर नहीं है किञ्चित् हि', कुछ भी ।

बड़े महत्त्व और मजे की घोषणा है यह क्योंकि ऊपर में जितनी सरल लगती है, यह अन्दर से उतनी ही गुह्य और गुह्यतर होती चली जाती है। 'गुह्य' में 'गुह्यतम' उसी तरह छुपा हुआ है जैसे नर में नारायण, प्रथम दो शब्दों के अर्थ के बीच की अनुसाधनमूलक कड़ी गुह्यतर है, जो दोनों को जोड़कर एक करती हुई खुद भी उसमें समरस होती हुई गुह्यता की वृहद् अस्मिता में उसी तरह अभिन्नतया लुप्त या विस्तृत हो जाती है जैसे नरोत्तम की साधना साधन 'नर' और साधन 'नारायण' की एकरूपता को व्यक्त करते-करते स्वयं नारायण की अव्यय अराण्ड चिन्मयता में समा जाती है।

मनुष्य में जीवन के परम सत्य को प्रकट करने की अद्भुत सामर्थ्य है जो मानवोत्तर प्राणियों में नहीं है। अतः मनुष्य 'श्रेष्ठतर' है। श्रेष्ठ तो चराचर जगत् में सभी हैं। जीवन की पवित्रता की दृष्टि से वनस्पति जगत् के सभी वृक्ष, पौधे, लता, पत्ता आदि असंख्य जीवधारियों में ही श्रेष्ठ हैं जितने पशु पक्षी जगत् के नानाविध रूप रंग वाले रंग और धरती पर और जल में निवास करने वाले निम्बपद, द्विपद, चतुष्पद, बहुपद वाले जानवर। जीवा का समान आनन्द होना चाहिए, परन्तु चेतना की दृष्टि से मानव जीवन 'श्रेष्ठतर' है क्योंकि वह 'श्रेष्ठतम' जीवन और 'श्रेष्ठ' जीवन के बीच की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कड़ी है। अतः सम्भावनाओं से परिपूर्ण, 'सत्य ज्ञानमनसं ब्रह्म' के साक्षात्कार का देहली द्वार। प्रकृति के सुरम्भ, गहुरगी विद्याल सांभ्राज्य में मनुष्य सबसे प्रिय प्राणी है। चाहे स्थावर जगत् का सर्वोत्तम, तुषारादि हिमालय ही क्यों न हो, मनुष्य के सामने उत्तम सौन्दर्य फीका लपता है, मनुष्य की सृजनशीलता का गौरव सर्वाधिक अनोखा और अतुलनीय है। विश्व के सम्मोहक वनस्पती साम्राज्य के उच्चान तर भी, चाहे वे बड़े से बड़े उठ विटप ही क्यों न हो, मनुष्य की उत्तरोत्तर विकासोन्मुखी चेतना के समक्ष मनुष्य के ही प्रतीत होते हैं। मीमंसा चट्टानों और फनप्रद गगनोन्मुखी वृक्ष मात्र ही क्या, पशु पक्षी जगत् के बिरल से बिरल जंतु जानवर भी, चेतना के विकास की अचिन्त्य सम्भावनाओं की तुलना में, मनुष्य के बहुत पीछे हैं। तत्वहीन और अभाग्य है वह मनुष्य जो इन निस्सीम सम्भावनाओं का भुंज होने हुए भी अपने गौरव का बिना पतिताने और प्रकट किये मर जाता है।

एतद्दृष्ट्या, मनुष्य सृष्टि का सिरमौड़ है, श्रेष्ठ सार है, क्षीर-दधि की प्रश्रिया में से मथनांतर निकला हुआ शुद्ध नवनीत है। वेदवाणी मनुष्य को अमृत की सत्ता घोषित करती है— 'मानवा अमृतस्य पुत्रा'। अमृत कहां है? सत्य में! सत्य कहां है? ऋत में! इस सत्य का सम्भव बोध व अनुभव मानव देह में ही सम्भव है, अन्य किन्हीं देहधारियों में नहीं। यदि मनुष्य स्वदेह में—ऋत में अर्थात् पंचभूतात्मक और त्रिगुणात्मक नरपिण्ड में निवसित गुणातीत आत्मा का दर्शन करने के दायित्व को निभा लेता है तो वह व्यास के साथ, स्वानुभव से व्यास के इस कथा का उत्साही समर्थन कर सकता है कि—

अमृतं च मृत्युश्च द्वयं दहे प्रतिष्ठितम् ।

मृत्युरापद्यते गोहात् सत्यनापद्यतेऽमृतम् ॥

नाति पत्र 278 79

मृत्यु भी इस देह में है, और अमृत भी । सत्य को यही सही पहिचान है । अमृत और मृत्यु दोनों इन तर देह में प्रतिष्ठित हैं, मोह तरों से मृत्यु प्राप्त होती है और सत्य से अमृत की उपलब्धि । अतः सत्य जब मानव चेतना में रमण करने लगता है, उसमें समा जाता है और मनुष्य का चित्तन और चरित्र जब सत्य के प्रकटन का उज्ज्वल माध्यम बन जाता है, तब मानव को अमृत तत्त्व की प्राप्ति होती है । आत्मचेतना के पूण विकास की सम्भावना और क्षमता मनुष्य में ही है, मनुष्येतर जीवधारियों में नहीं । इस विकास पथ का निर्माण मनुष्य का चरमदायित्व है ।

मानव की चेतना शक्ति के विकास के तीन प्रमुख रूप हैं—ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्री । ब्राह्मी रूप में चेतना का अम्युदय नित्य नयी सरचना लेकर आता है, पान विज्ञान, कला सृष्टि, घम-दशन आदि अमर्य क्षेत्र हैं जिसमें गिरतर नूतनता का प्राकट्य इस चेतना के विकास प्रम में होता रहता है । व्यास प्रणीत सम्पूर्ण साहित्य इसी चेतना के अम्युदयान की मौक्तिक देन है । यह सृजाशीलता केवल भागीय चेतना का दायित्वपूर्ण एकाधिकार है, मानवेतर उप चेतनाओं का नहीं । तात्पर्य यह नहीं है कि प्रत्येक मानव सृजनशील होता है और उसका जीवन रचनात्मक कृतियों का सतत प्रवाह । प्रयोजन मात्र इतना ही है कि रचनात्मकता की अतः सम्भावनाओं का आगार है मानव, क्योंकि उसे नारायण रूप में व्यक्त और विरसित होने की चैतन्य शक्ति का बीज जन्म से ही प्राप्त है । और उसका विकास की लोका दायित्व है । सृजन शक्ति के पूण विकास की सम्भावनाओं के साथ मनुष्य में मानव द्वारा सष्ट कृतियों के रक्षण और पापण की शक्ति भी प्राप्त है, लगन प्रेम और धर्म के द्वारा मानव चेतना वैष्णवी शक्ति के रूप में अभि-यञ्जित होकर युगवध की पीठिका में सष्ट सृजाशीलता के लिए महान्धक का कार्य करती है । इस सजन और सरक्षण की प्रक्रिया में तत् विरोधी तथा प्रतिगामी शक्ति तत्त्वा के समयोचित सहार की रौद्री शक्ति भी मानव चेतना के अम्युदय के प्रम में सहजतया प्रकट होती है । सग, स्थिति और सहार की अद्भुत सामर्थ्य मनुष्य मान में है, अपेक्षा केवल कालोचित विकास और उसकी अभि-यक्ति की है ।

मानवीय चेतना के विकास की अनन्त सम्भावनाओं के रूप तो तीन ही प्रमुख हैं परन्तु इसके विकास की प्रक्रिया को मनुष्य किसी भी दिशा में ले जा सकता है । यह चाहे तो विकास का अमृत भाग अपना सकता है, और चाहे तो मृत्यु भाग का अनुमरण कर सकता है । कारण यह कि दोनों—मृत्यु और अमृत—मानव देह में विराजमान हैं और मानव इन दोनों में से किसी भी भाग

को अपनाने में पूणतया स्वतंत्र है। नर का तारायणत्व में विवसित होना ही अपने में निहित अमृतत्व की प्राप्ति है नर।

इस सम्बन्ध में व्यास के जीवन की एक छोटी सी घटना ध्यातव्य है। एक बार महर्षि अपने अत्तेवासिन् समुदाय के साथ अपने आश्रम की समीप स्थली में घूम रहे थे। सहसा उन्होंने देखा कि एक अत्यन्त लघुकाय कीड़ा भूतल पर ठीक उनकी चरणस्थली में आ गया। ऋषिराज के बढते हुए पदा की दृष्टि से भयभीत वह कीड़ा सम्पाद्यमान हो उठा और जीवन रक्षा हेतु दौड़ने का प्रयास करने लगा। वह शीघ्र ही दूर हट गया। यह सब कुछ देखकर महर्षि व्यास ने अपने समियों को कहा—‘समस्त प्राणधारियों में जीवन के प्रति प्रेम कितना नैसर्गिक है। इस छोटे और महत्त्वहीन कीड़े को देखो! वह भी अपनी अस्मिता को कितना महत्त्व देता है और अपने को जिंदा रहने योग्य समझता है।’ यह कहते हुए व्यास कुछ झुके और रेंगते हुए महत्त्वहीन कीड़े को एवटक देखने लगे। उनके दृष्टिपात से कीड़े की हूनाडियों में स्पन्दन हुआ, वे कुछ खुली और व्यास के हृदय का स्पन्द कीट हृदय में प्रविष्ट हुआ और वे एक दूसरे से सवाद करने लगे। यह सवाद कैंसा हो गया, एक रहस्य है, पर ऐसा हुआ यह असंदिग्ध है। किसी अमर्द चक्र से मिलो तो तुम्हारे अन्तमन की बातें सुझाव रूप में उसमें प्रविष्ट और प्रकाशित हाती रहगी, और तुम्हें लगेगा माना तुम्हारे विचार उसके मानस में प्रवेश कर रहे हैं, नेत्र नेत्रों से बोलते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे नह मुह किंगोर और पशु पक्षिया में परस्पर सम्वाद होता है। हृदय अपनी अमिलापाओं को हृदय तक पहुँचा ही देता है। यद्यपि सब मनुष्या में यह योग्यता विवसित हुई नहीं दिग्गई देती, पर इतना कथन अवश्य सत्य है कि यह ज्ञान भी अत्यनेक सिद्ध ज्ञानों की तरह सुनिश्चित है।

व्यास ने कुछ झुका कर उस कीड़े से कहा, ‘अरे, न-कुछ कीड़े! क्या बात है कि तुम भी अपने जीवन-रक्षा की इतनी परवाह करते हो? तुम अभी मेरे पाँव तले दब कर मर जाते, परन्तु अपनी प्राण रक्षा हेतु तुम भागे और तुमने अपने आपको झट से मेरे पाँव के तले के नीचे धाने से बचा लिया। मानव प्राणियों की तरह तुममें भी क्या प्रेम और घणा, सुख और दुःख, अनुभूति-व्यवस्था और प्रतिकूलता विचारण के भाव होते हैं? क्या सारा जीवन इस द्वन्द्व की मण्डार में ही प्रवाहमान है?’ कीड़े ने आत्म भाषा में ऋषि की प्रत्युत्तर में कहा, ‘मो महर्षे! आपकी दृष्टि में मैं बिल्कुल छोटा और न कुछ अवश्य हूँ, परन्तु मैं जानता हूँ कि मैं अविद्यमान हूँ? आप पुरातन मात्रदृष्टा ऋषियों की दिव्य मात्राणि की अविद्यमानता और अव्यवस्थित करने वाले,

तथा, ब्रह्मविद्या के त्रिदत्तापूर्ण दिग्गज काव्यो और पुराणो को प्रवट करने वाला महारू आत्मवेत्ता हैं। आप वेदव्यास हैं, पर यह धारण्य की बात है कि आप जैसा प्राणपूर्ण मानव सिरोमणि एक अल्पराय कीट के जीवन पर एन आ-सा प्रहार करे। जीवन सयत्र है, इस से दूय कुछ भी नहीं। इस के समा परित्र और कुछ भी नहीं। जीवन हर आहृति मे पाया और सम्माननीय है।'

कीट ने यह निर्भीक, सशक्त और सत्यवाणी महर्षि व्यास के चिद् गगन मे आदर्यान्वित कर देने वाली भीषण विद्युत् प्रहार की तरह बोध गर्द, और उहाने सम्हल कर पूछा, 'आ, अदभुत प्राणी। तुम कौन हो?'

कीट ने कहा, 'मैं भी आप की तरह एक श्रमि हूँ, और लोक मुझे नारद कहते हैं। मुझे 'प्रथम श्रमि' होने का सौभाग्य मिला है और विद्वद् समा मे मेरी प्रतिष्ठा है। यह सम्माननीय गौरव मुझे अधिकारगत सम्पदा के रूप मे मिला है और मैं इसका योग्य पात्र व अधिकारी भी हूँ।'

व्यास ने पूछा, 'हे, श्रद्धेय मुने। यदि आप नारद हैं तो क्या कारण है कि आप कीड़े बन गये।'

देवर्षि नारद ने कहा, 'मेरे निवास आर कौन कीड़ा बन सकता था। मनुष्य तो सर्वोत्तम है। उत्थान और पतन तो उसी की गरिमा है। यह श्रेष्ठ और निवृष्ट आचार विचार की सामर्थ्यसे विभूषित है, जब वह उच्च विचार का जीवन जीता है तो वह नरात्तम प्राणी हो जाता है, पर जब वह अधम विचारा से जात्रात होकर निवृष्ट जीवन जीता है तब वह पतित कीट ही तो है। यदि वह विनयशील है तो उसे अम्बुदय और यदि वह गर्वीला है तो उसे अयोगति मिलती है। मनुष्य बसा ही हो जाता है जैसा वह सोचता है। गव विनाश की प्राक्भूमिका है। मैं ही मेरा इतिहास हूँ। जैसा मैंने सोचा बसा बन गया, और जैसा चिन्तन करूँगा वैसी ही मेरी भवितव्यता बनगी।'

एक बार मैंने विष्णु की उपस्थिति मे, अपने आपको उसके प्रिय और पवित्र भवता मे सर्वोत्तम भक्त घोषित किया। उसका क्रोध मुझ पर टूटा और मैं यह कीड़ा बन गया। मात्र प्रथम बार ही की मेरी यह अनुभूति नहीं है। बार बार मेरा उत्थान और पतन हुआ है।'

बीच ही मे व्यास बोन पडे, 'मैंने स्वप्न मे भी नहीं सोचा कि आप श्रद्धेय ऋषिवर नारद हैं अथवा मैं इस अग्रता से आपको सम्बोधित नहीं करता।'

नारद ने सानुनय कहा, 'याचोचित दण्ड ही था मेरे लिए आपका यह व्यवहार। जो-यचित कुछ बनता है तो उसे कुछ बनना ही पड़ता है।'

व्यास ने प्रेमपूण आदर से कहा, 'या आप मुझे मेरी घृष्टता के लिए क्षमादान नहीं देंगे ?'

नारद ने मानपूजन कहा, 'इसमें आपको कोई दोष नहीं, तान की कोई बात नहीं। जो बनता है वह विगडता है। आमा तो अदृष्ट है।'

ऋषि व्यास ने एक शका प्रस्तुत की, 'आपका कथन कि मर्म फल-व्याप्त में अक्षरशः सत्य है। फिर भी आप से एक प्रश्न है। क्या एक पूर्ण मानव का कीड़े के रूप में अवतरण सम्भव है ? और, क्या वह जन्म और मरण से विनिर्मुक्त नहीं होता ? यदि हाँ, तो आप जन्म-मृत्यु-विज्ञान और पुनर्जन्म के कालचक्र में पुनः क्यों आता पडा ?'

नारद ने स्पष्ट कहा, 'पूर्ण मानव परमात्मा ही है, नर नरि। दृष्टान्त मुक्त है। अ पूर्ण मानव ही अपने अहंकार जय अमान से अज्ञान में अज्ञान रहता है।'

‘यदि मैं पूण होता, तो आप मुझे कीट योनि में इस प्रकार रेंगते हुए नहीं पाते। क्या यह स्पष्टीकरण सतोपप्रद नहीं है?’

स्वस्थ भाव में व्यासजी ने फिर प्रश्न किया, ‘आपके वचन निस्संदेह स्पष्ट हैं, पर पूण मानव के क्या लक्षण होते हैं?’

नारदजी ने कहा, ‘अहंकार से सबधा त्रिनिर्मुक्त पूणमानव में, ‘मैं, मेरा, तेरा, उसका’ नहीं होता। इन भावों में पाशविकता की चलक होती है, स्वाय और सकीणता की दुर्गन्ध आती है, यह अपूण मानव की छवि है। अपने आपको अथवा पावन भक्तजनो की तुलना में श्रेष्ठतम और पृथक् घोषित करके विष्णु की विद्यमानता में मैंने मेरी अपूर्णताका ही परिचय दिया था। तदर्थ ही मैं इस कीटयोनि में उनके द्वारा अभिशप्त होकर आ गया।’

‘तो क्या इस स्थिति से वचन सम्भव नहीं है?’ व्यास ने पूछ ही लिया।

‘हे क्या नहीं! है। यदि आप देव से प्रार्थना करें तो मैं पूषवत् नारद बन सकता हूँ। आपकी कृपा से सब कुछ सम्भव है।’ नारद के ये त्रिप्रवचन सुनते ही करुणा की मूर्ति व्यास ने परमात्मा से प्रार्थना की और कीट योनि से तत्काल मुक्त होकर नारद अपने स्व स्वरूप में प्रकट हो गये।

महर्षि व्यास और देवर्षि नारद परस्पर प्रगाढ प्रेम से गले लगे और मानव जीवन की पूणता और पावन गरिमा की छवि व्यास के अन्तर्वासिया के मानस पर दिव्याद्भुत हो गई।

यह है मानव का सत्य स्वरूप, जो व्यास ने अपनी काव्यकृति में सोदाहरण प्रस्तुत किया है। मानव, असीम सम्भावनाओं का, नर देह में, पुञ्जीकृत रूप है जो कीट भी बन सकता है और कृष्ण भी। सम्भावनाओं की वास्तविकता में परिणित करने की सारी सामर्थ्य मनुष्य के कर कमला और प्रज्ञा में प्रयोगार्थ सञ्चित है। अतः अपने हाथों और बुद्धि के समुचित विनियोग में मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करता है। भाग्य की उज्ज्वलता और भूमिलता स्वयं मनुष्य के क्रिया-बलापा पर निर्भर करती है। सच्चे पुरुषार्थ में कृष्ण पद की प्राप्ति प्रत्येक नर के लिए संभव है, प्रमाद और मिथ्या अहंकार से मनुष्य कीटतुल्य भी बन सकता है। सारत मनुष्य के कम या गारूप उसने भाग्य के स्वरूप का निर्णायक तत्त्व है।

मनुष्ययानिमिच्छति सबभूतानि सवन् ।

1800 शांतिपथ

परतुत मनुष्य भयह सय मुछ है जो प्रह्लाण्ड म है। प्रकृति का चञ्चलत्व, आत्म का विमलता यागु का प्रमाद अग्नि का तैरा, जन का रग पृथ्वी का

अचलत्व, पेडा की फलप्रदता पुष्पो की सौरभ, पक्षिया की उडान, पशुवा का पशुत्व, देवो की प्रकाशमयता एव प्रच्छन्नता, विपैते सर्पो विच्यु आदि का जहर एव मारणशीलता, देहा की मरणशीलता, तत्त्व की अनश्वरता आदि अनेकाकेव शक्तियो का बीजपुज है मानव । वह चाहे तो अपने मे मरण मारण शीलता के बीज का वृक्ष रूप मे अकुरन विवसन कर सकता है, वह चाहे तो देवो का पान, आत्मा की अमरता, पक्षिया की उडान एव पेडा की फलप्रदता को अपने जीवन मे विकसित कर स्वयं के और समाज के जीवन को उन्नत और समृद्ध कर सकता है । मानव मे सब विष बीज हैं । अपन व्यक्तित्व के विवास की दिशा व चरित्र के चयन मे वह स्वतन्त्र है । वह चाहे तो स्वार्थ सिद्धि एव दलगत उद्देश्या की पूर्ति का माग अपना सकता है, चाहे तो वह सबहितकारी स्व की सर्वोन्नति का पथिव भी बन सकता है । स्वाथ के माग से सर्वाथ का माग अधिव हितकारी व मंगलमय है, प्रथम सकीणता का माग है और दूसरा उदारता का, विशालता का निम्की परिणति सामान्य दृष्टि मे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श मे होती है । मानव चौराहे पर खडा है । जैसे चयन वैसा चरित्र । जैसा बम वैसा फल ।

‘यथा कम तथा लाभ इति शास्त्रनिर्दशनम्

अर्थात् जैसा बम बिया जाता है वैसा ही लाभ प्राप्त होता है, यही शास्त्रा का निचोड है । अत कमठता मनुष्य के उत्थान का सोपान है । बम से ही मानव जीवन मे 'जय' मात्रा पूण होती है । 'वृत्त मे दक्षिणे हस्ते, जयो मे मध्य आहित'—याने, मेरे दाहिने हाथ मे कम है, और बाएँ हाथ मे जय का निवास है । तात्पर्य यह है कि पुरुषार्थ ही जय की अचना है, जय का परम पवित्र पाथेय है, मनुष्य के श्रेष्ठतर जीवा की जयमाल है । यह है पुरुषार्थ के धरातल पर व्याप्त प्रणीत मानव की गौरव गरिमा का नये सिर से पुनप्रतिपादन ।

यह मानवीय जीवन के स्वातन्त्र्य दर्शन का शाश्वत आधार है । मनुष्य बम बनने मे स्वतन्त्र है, और बम ही मानवता का उदायक तत्त्व है दायित्व भी । सोचनी मनुष्य का चिन्तन और चरित्र मानवीय गुणो का प्रतिनिधित्व करने वाला ही नहीं, अपितु प्रसन्न करने वाला अविरल स्रोत भी बन जाता है । स्वाभिमान वृद्धिनी होती है उसकी सब क्रियाएँ प्रक्रियाएँ, वह प्रतिष्ठा के माग से ही सामाजन का प्रेमी और समर्थ होता है । अपने ही पुरुषार्थ से हस्तगत जय व लाभ के उपभोग मे उसका जीवन मनुष्यत्व को सुशोभित करने वाला माध्य रहता है । यही मानवोचित स्वतन्त्रता और 'याय की सच्ची नसोटी' है, यही सही मानवता है यही पुरुषार्थ का प्राण स्पन्द है ।

पुरुषार्थ से पराङ्मुख मनुष्य मानव कहलाने योग्य नहीं रहता है। जब तक मनुष्य इस जगत में जीवित है और उसने पास प्रकृति प्रदत्त दो खुले हाथ हैं, उसे पुरुषार्थ के मार्ग पर मयिबेक चरना चाहिए। पुरुषार्थी मनुष्य के जीवन में मवतोमुगी अम्बुदय का द्वार स्वतः उम्कुत हो जाता है, यद्यपि वह फलप्रदा सिद्धि का मुत्पापेक्षी या आकांक्षी नहीं रहता। तदय निर्घरिण के बाद तमयता से, वार्यारुड हो जाता ही पुरुषार्थ का स्वरूप है। पुरुषार्थी नी ऐसी उद्यमशीलता ही वेदव्यास का पाणिवाद है। शांतिपत्र में व्यास कहत हैं कि जगत् में जिनके पास दो हाथ हैं और जिनमें अपने इन हाथों से कम करने की रचि, लगन, निष्ठा और उत्साह बुद्धि है उनके वार्यों में सिद्धि का प्रसाद मिलकर ही रहता है। व्यास का वचन ह—

अहो सिद्धायता तेपा येपा सतीह पाणय ।

अतीत्र स्पृह्यो तेपा एपा सतीह पाणय ॥

शांतिपत्र 180/11

इससे यह निष्कय निकलता है कि पुरुषार्थ से मानव जीवन में जय व सिद्धि का पथ प्रशस्त होता है और पुरुषार्थ करने में मनुष्य स्वतंत्र है।

मनुष्य की स्वतंत्रता मानव निर्मित सविधान या किसी क्रान्ति की देन नहीं है। यह तो नैसर्गिक प्रसाद है जिसके उपभोग का दायित्व एवं अधिकार मनुष्य को जन्म से ही प्राप्त है। अतः इस अधिकार की यत्नपूर्वक रक्षा करना मानव का धर्म है, परमदायित्व है। चूकि यह अधिकार मनुष्य मात्र को जन्म से ही प्राप्त है, अतः स्वतंत्रता मानव जीवन का एक ऐसा मूल्य है जिसकी पवित्रता प्रत्येक मानव को माय हानी चाहिए। जैसे दुर्घोषन को अपनी स्वतंत्रता प्रिय है वैसे ही अर्जुन और अय किसी मनुष्य को भी अपनी स्वतंत्रता प्रिय है। इसलिए दुर्घोषन को स्वतंत्रता के उपभोग का उनना ही पावन अधिकार है जितना अर्जुन को। तदय दुर्घोषन पर, अर्जुन की तरह, अपनी स्वतंत्रता के उपभोग में दोहृग दायित्व है स्वयं की स्वतंत्रता के साथ साथ अर्जुन की स्वतंत्रता की परिरक्षा करता। मानव मात्र का यह अधिकारगत दायित्व तथा दायित्वगत अधिकार है कि वह अपनी स्वतंत्रता को रक्षा के साथ साथ अन्य मनुष्यों की स्वतंत्रता की रक्षा हेतु तत्पर और सक्रिय रहे। स्वतंत्रता का स्वरूप मात्र वैयक्तिक नहीं, वैश्विक है।

पारस्परिकता की भूमिका में सजग और क्रियाशील मनुष्य ही स्वतंत्रता के मौलिक और नैसर्गिक मूल्य का महत्त्व जानता है। मनुष्य की श्रेष्ठता और गौरव गरिमा इसी में है कि वह स्वतंत्रता के दत्त वैश्विक

स्वरूप का बोधयुक्त आदर करे। महर्षि व्यास के पुत्रपात्र समन्वित पाणिवाद के अभिन्नाग्र रूप में ही मानव स्वतन्त्रता के शाश्वत मूल्य की महिमा का मानवीय रूप विकसित होता है। मानव स्वातन्त्र्य की इस अभिव्यक्ति और अभिरक्षा में ही मनुष्य की अस्मिता का समादर है। जीवन के शाश्वत मूल्यों का आदर करना ही धर्म है। धर्म से मानव ही नहीं, अपितु जगत् और जीवन के सारे पदार्थ और प्राणी जब व्यक्ति द्वारा समाहृत और रक्षित होना लगते हैं, तो मनुष्य की स्वतन्त्र अस्मिता में से प्रेम और अहिंसा के मूल्यों का सहज प्रकटन होने लगता है। शाश्वत वही है जो सत्य है, सत्य काग से, अबाधित होता है, यह सदा से है। सत्य 'धा' और 'हागा' की क्रिया में नहीं बंधता। वह निरंतर है, उसके सनातन प्रवाह को जानने, उसमें जीने वाला मनुष्य ही श्रेष्ठ है, काल से अबलक्षित है, निमल है, मुक्त है। मुक्त मानव नर देह में नारायण है। वह स्वयं तो मुक्त है ही, वह उनको भी स्वतुल्य मुक्त होने की कला दे देता है जो उसकी सन्निधि में सतत अंतःकरण से शाश्वत जीवन जीने की निमल आकांक्षा से आबैठता है। परंतु ऐसे महत् जन अत्यंत थिरल होते हैं। नई जन तो अपने पाणिवाद का, अर्थात् मुक्त हस्तशक्ति का प्रयोग मात्र अपने स्वातन्त्र्योपभोग के लिए नहीं अपितु दूसरों को इसी स्वातन्त्र्य अधिकार से वञ्चित करने के लिए करते हैं। स्वयं स्वतन्त्र रह कर दूसरों को अपना दास बना देते हैं। इस तथ्य का उद्घाटन मनोविद् व्यास ने शार्ङ्गपत्र के 'माक्ष धर्म नामक' 180 वें अध्याय में बड़े बलात्मक ढंग से किया है—

पाणिमतो बलमतो धनवता न सशय ।

मनुष्या मानुर्परं दासत्वमुपपादितः ॥

180 31

अर्थात्, 'जिनके दाना हाथ हैं, निस्संदेह ही बलवान और धनवान हैं। मनुष्यों को तो मनुष्यों ने ही दास बना रखा है।'

मनुष्य के हाथ में अपार बल और धन-सामर्थ्य का अतिराल सात है। परंतु जब स्वयं बल और धनशक्ति रूपी स्वतन्त्र सत्ता का दुरुपयोग किया जाने लगता है, तो मनुष्य अपने ही समान मनुष्यों को, जो उनसे बल और धन में तुलनात्मकतया समजार हात हैं, अपने आतंक के प्रभाव से पराभूत कर देने हैं। मनुष्य मनुष्य द्वारा दास बना लिया जाता है। यह मानव समाज में मत्स्य माय का चलित रूप है, पशुन का परिघायण है, नराधमता का उदाहरण है।

स्पष्ट है, मानव के दो रूप हैं उत्तम और अधम। उत्तम रूप नारायणत्व का सोपान है और अधम रूप नर ना नर पशु बना देता है। महाभारतकाल

न मानव के इन दो रूपा का सा मित मूल वाले जीवन तरुणो की उपमा दकर का व्यात्मक अमि-यक्ति प्रदान की है। नर के उत्तम रूप को धर्मयामन 'धमद्रुम' की प्रतीकात्मक सागा से व्यक्त किया है और नर के अधम रूप को 'मयुद्रुम' के प्रतीक से। धमद्रुम के सम्बन्ध में महर्षि व्यास का वचन है—

युधिष्ठिरो धममयो महाद्रुम
स्वधाऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शासा ।

माद्री सुता पुष्पफले समृद्धे
मूल कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥

शां पत्र 111

इस धममय मानव महावृक्ष के मूल में अव्यय बीज रूप से स्वयं नारायण निराजमान हैं जो साक्षात् ब्रह्म हैं और जिनका साक्षात्कार ब्राह्मणों को हाता है। ऐसे कृष्ण मूल वाले महाद्रुम की युधिष्ठिर की सजा से प्रसिद्धि है, अर्जुन इस वृक्ष का तना (स्वध) है और भीमसेन इसकी शाखाएँ हैं, इस वृक्ष पर लगने वाले फल और फूल माद्रीसुत नवुल और सहदेव हैं। अथ शब्दों में, परात्पर परब्रह्म के प्रति जिस मानव के अंतस् में अक्षय प्रेम, सजग विश्वास तथा अमाध श्रद्धा है तथा ब्रह्मानिया और ब्रह्मरूप कृष्ण म, जो नर रूप में नारायण है उतनी ही गहन प्रेममय आस्था है वह धममय महाद्रुम है। महाभारत में युधिष्ठिर इस धमतरु का साक्षात् स्वरूप है। वृक्ष के तने के रूप अर्जुन है। अर्जुन सरन, श्वेत और सीधे को कहते हैं। ऋजु भाव वाले अर्जुन का साहचर्य नित्य कृष्ण के साथ ही है। अर्जुन 'नर' है, और कृष्ण नारायण। नर नारायण का जाड़ा है। अव्यय बीज नारायण ही नर रूपी तने में विकसित हुआ है। अर्जुन कभी कृष्ण से भिन्न नहीं हो सकता। इस तमय रूपी अर्जुन स्वध पर ही अतुल बलशाली शाखाएँ फैली हैं, जिन्हें व्यास ने भीमसेन की सजा दी है। इस महाद्रुम पर जो पुष्प और फला की समृद्धि हुई है उसे व्यास ने 'माद्रीसुता' नाम दिया है। अतः इस धमवृक्ष के पाचों पाण्डव ही अथ पत्यम बने हैं। बीज वृक्ष माय से कृष्ण ही पाचा पाण्डव समेत युधिष्ठिर नामक धममय महावृक्ष बने हैं। यह सबविदित है कि बीज में वृक्ष सोया रहता है, परन्तु अनुकूल भूमि, पर्याप्त जल और सूर्यताप मिलने पर वह जागृत और विवसित हो जाता है। बीज ही वृक्ष बना है। दोषा अद्वय हैं एव हैं। उसी प्रकार नर और नारायण एक हैं परन्तु उनकी प्रतीति की पूर्णता तभी होती है जब धममय जीवन यापन की परावाक्या म नर नरोत्तम से नारायण हो जाता है। नर में नारायण तत्त्व का साक्षात् दर्शन य प्रवटन ही मानव जीवन की तरुणाई है उतकृत्यता है परिपूर्णता है। महाभारत में

चर्णित मनुष्य की जय यात्रा के प्रतीक तार की किञ्चित् झाँकी इस बीज वृक्ष-यात्रागत विवसित घममय महाद्रुम में अवलोकनीय है ।

मानव जीवन में घममय तरंग का विकास इतना सहज नहीं है जितना सामान्यतया समझा जाता है । महात्मा गांधी का गुणगान करना उतना पठित नहीं है जितना महात्मा का जीवन सधप रहा था । सत्य और अहिंसा की दुहाई देने मात्र से, चाहे वह कितने ही सुन्दर और समीचीन शब्दों में समय-समय पर की गई हो, कोई व्यक्ति या संस्थान सत्यनिष्ठ और अहिंसाप्रिय नहीं हो जाता है । गांधी की तरह इन उन्नत जीवन मूल्यों की बलिबंदी पर राप जाना पड़ता है । स्व का राप ही बलिबंदी पर-मोछावर करते करते उस समय सब को भी 'तत' ही परात्परता में होम देना पड़ता है । जिस तरह का जीवन 'नरोत्तम' यज्ञ की ओर तदनन्तर 'नारायण' यज्ञ की पूर्णाहुति मंग गया है, वही घममय महावृक्ष का स्वानुभव से प्रामाणिक अचन-आलाचन करने का सही अधिकारी है । उसी व्यक्ति की अभिव्यक्ति है 'महाभारत में चर्णित मनुष्य की जय यात्रा । कौरव पाण्डवों का भयकर विनाशकारी बुरा क्षेत्र का भीषण भ्रातृ महायुद्ध निस्सन्देह एक ऐतिहासिक घटना थी जिसकी वाक्याभिव्यक्ति मात्र वेदव्यास का महत्त प्रयोग नहीं हो सकता । प्रत्येक युग में, हर देश व समाज में, यहाँ तक कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन में 'महाभारत' घटित हुआ है, होता है और होता रहेगा—इसी गभीर मानवीय सत्य की सौ-दयाभिव्यक्ति महर्षि व्यास ने अपने इस महाकाव्य में की है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है ।

सब मानव न सदा बुरे होते हैं, न सदा अच्छे । परन्तु कुछ मनुष्य ऐसे अवश्य होते हैं जिन्हें अच्छा कहा जा सकता है, जो वस्तुतः अच्छे ही होते हैं, कुछ ऐसे भी होते हैं जिन्हें बुरा बड़े बिना रहा ही नहीं जा सकता क्योंकि उनके जीवन-चिंतन और व्यवहार में अच्छाई की झलक भी नहीं दिखती, परन्तु वे सत्या में, सम्पत्ति में, शक्ति और सामर्थ्य आदि में इनसे बली, कठोर और अमानवीय होते हैं कि उनके विरोध में अगुली उठाना तो दूर, चर्चा भी करना आपत्ति और सफटा की स्व-जीवन में निमग्नण देने के तुल्य होता है । ऐसे आततायी नृगसवादी, अयायपूर्ण अथ जनो के अधिकारों का अपहरण एवं हानि करने वाले व्यक्तियों का—चाहे वे कितने ही बली और अधिक बलवाने हो—सत्य और मानवीय यात्रा के धरातल पर राडे होकर—विरोध करने वाले लोगों के जीवन को व्यास ने 'युधिष्ठिरो घममयो महाद्रुम' की सजा से अभिहित करके मनुष्य के एक श्रेष्ठ रूप का चिन्तन किया, परन्तु उन आत्म-जीर अयाय, अनाचार और अमानवीय विचार एवं आचारों को

पुष्ट और व्यक्त करने वाले मनुष्यों का व्यास से 'दुर्योधनो मयुमयो महाद्रुम' के विशेषण से नामांकित एवं चित्रित किया है।

'मयुमय महाद्रुम' मानव का अधम रूप है, जिसका महर्षि न मना वैज्ञानिक ढंग से काव्यशैली में प्रतीकबद्ध चित्रण किया है। वे कहते हैं—

दुर्योधनो मयुमयो महाद्रुम

स्व घ कण शकुनि तस्य शाखा ।

दु शासन पुष्पफल समृद्धे

मूल राजा घृतराष्ट्राऽमनीपि ॥

आदि पत्र 1 110

अर्थात्, दुर्योधन नामक मयुमय महावृक्ष है जिसका तना कण है, शकुनि शाखा है, दु शासन उसका समृद्ध पुष्प फल है और अमनीपि (अविवेकी) राजा घृतराष्ट्र उसका मूल है, याने जड़ है। 'मयुमय महाद्रुम' वह है जिसमें दुर्योधन की मायता प्रदान करने वाली समस्त वृत्तियाँ विकसित होती हैं और पोषण प्राप्त करती हैं। काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सर, द्वेष, मिथ्या अहंभाव आदि भावों का अविरल स्रोत है मयुमय महाप्रतिप। इस का मूल है अविवेक जिसका प्रतिनिधित्व महाभारत में राजा घृतराष्ट्र कर रहा है। अज्ञानमय बीज से निकसित और विकसित वृक्ष, अधममय मनुष्य जीवां तरु ही हो सकता है—बीज वृक्ष-माय से। बबूल का पेड़ रागान पर बबूल ही तो घनेगा, जिसमें काट अधिक और छाया कम होगी। मयुमय जीवन भी ऐसा ही होता है। इस पद की सन्निधि में समानधर्मी पेड़ों का ही बाहुल्य होगा। कण ही ऐसे पेड़ का तना होता है, जो स्वयं की अस्मिता के रक्षणार्थ दुर्योधन की मयुमयता का ही सहायक सम स्वीकारता है और अपनी असलीयत को पहचानने के बाद भी, कि वह सूयनन्दन कुंती सुत ही है वह अन्विक-जय दुर्योधन तट का स्वर्ध ही बना रहता है, जय कृतज्ञता के धम को लेकर। इस तन पर जो मद मात्स्य का मयुवृक्ष बड़ा उसकी शाखाओं में शकुनि के छलछद्म का रस प्राधान्य रहा। इस वृक्ष पर लगने वाले फल-पूना का समृद्धि को व्यास तन 'दु शासन' कहा है। अर्थात्, अविवेकी घृतराष्ट्र रूपी बीज में से पनपने वाले वृक्ष की जीवनयात्रा दु शासन रूपी जीवन पुष्प और फल के अम्युदय में हुई। जिसके जीवन में अमनीपिपता का मूलमंत्र ही अर्थात् अपने मन पर ईगर्जना कर सकने की दुबलता का बीज हो, उसका जीवन कणावलम्बी याने परावलम्बी होकर शकुनि रूपी छलछद्म से अपने आपका अध्वान समज्ञता हुआ दु शासन की भुजाओं की तरह धक कर गौरवहीन और हतभाग्य ही हो सकता है। यदि घृतराष्ट्र अपनी मायीपा

क सदुपयाग स दुर्योधनादि अपने पुत्रा म आसक्ति र रसकर सत्यावलम्बा ये अक्रुश से दुर्याधन को स्ववशी बना रता या उसके बचपन काल मे ही विदुर के परामश का आदर करके उसका सग त्याग कर देता, तो त्रिपदान, लाशाग्रह दाह, द्रौपदी चीर हरण आदि अमातुपीय और धायघाती दुष्काय दुर्योधन समनसमान कर पाता और गोरवा के मुल का शय भी नहीं होता। अत्रिवकी जीवन मालाभिमुल हारर विनष्ट हो जाता है और त्रिवेम्णागियो की जीवन यात्रा का भी सबटापत्र और बटकाकीण बना देता है। यह दूसरी बात है कि नारायण यात्रा के पथिक सजग और सावधान होकर अपनी जीवन यात्रा म आने वाले रिष्णो का धैय और माहम के साथ उल्लघन करत हुए अपने लक्ष्य को पूरा कर ही लेते हैं। जयमाल उही के गले मे पढती है। महाभारतभार कहत है—

‘यतो वृष्णस्तताधम । यतो धमस्तता जय ।’

पुरुषायकामी मनुष्य का जीवन तरु श्रीवृष्ण प्राप्ति के मूल सकल्प के अव्यय बीज से बढ़न वाला धममय महावृक्ष होता है आर पदाथ और सत्ता-कामी मनुष्य का जीवन तरु अमनीपा के अधबीज से बढ़ने वाला मयुमय महावृक्ष होता है। दाना महाद्रुम है, छाटा बाई नहीं, परंतु तनिक तुलनात्मक चिंतन से स्पष्ट लगता है कि मयुवृक्ष को जड कमजोर है और धममय वृक्ष की जड एकदम गुदर और परम्परा के जलामृग से निरंतर सिञ्चित रहती है। शोध स्थितिय होता है और श्राधाभियन्त विनेक के लोपत्रिन्दु का प्रतीक है। श्रेय का माग छलछिद्र का माग है और जब तक श्रेधी व्यस्ति की अभिलाषा पूण नहीं होनी, वह विवेक-साम्राज्य पर अचित्य चालाकी व पड्यत्रकारी मनावृत्ति से प्रहार पर प्रहार किये जाता है। श्रेधी की आश्रामकता धम के परिपेश को धारण कर के भी अभियन्तित होती है और धम की ओट के भी। अतः दुर्योधन को व्यास ने ‘मयु’ वृक्ष मे ही कहा है ‘अधम’ वृक्ष नहीं, मयाकि सवथा धमविहीन कमी कोई मनुष्य नहीं हाता। डाकू भी पूजा करता है दवी जगदम्बा की और शक्त भी कल्याणाय उसी देवी का पूजता है। लस्य भिन्नत्व से मनुष्य का व्यक्तित्व परस्पर विरोधी गुणो वाला लगता है। दुर्योधन धम से अनभिन्न नहीं है, वह धम के मम का जानता है पर उसके जीवन मे धम की अभिव्यक्ति होती हुई दिखाई नहीं पढती, वह अधम के स्वरूप से भी अनभिन्न नहीं है, पर उसके क्रिया मलापो से, व्यवत विचारो से अयायोचित और अधमजय व्यवहार ही की अभिव्यक्ति का अधिक परिचय मिलता है, न कि मानवीय प्रेम और बधुत्व का। स्वयं दुर्याधन निस्सोच कहता है—

जानामि धम न च मे प्रवृत्ति,
 जानाम्यधम न च मे निवृत्ति ।
 केनापि देवेन हृदि सस्थितेन
 यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि ॥

अर्थात्, 'मैं धम का जानता हूँ, परन्तु मेरी गति और प्रवृत्ति धममय जीवन में होती ही नहीं, मैं अधम को भी जानता हूँ परन्तु अधम से मेरा मन निवृत्त नहीं हो रहा है, छुटकारा नहीं पा रहा है। (मैं क्या करूँ!) कोई देव मेरे हृदय में बैठा हुआ है, वह जैसे मेरा मा को नियुक्त करता है, वैसे मैं करता हूँ।'

कैसी छलपूर्ण उक्ति है दुर्योधन की! जानते हुए भी वह धममय व्यवहार नहीं कर सकता, उसके आचरण में अधम की प्रधानता है, परन्तु वह भी धमन की तरह धाणी का प्रयोग करता है कि कोई हृदयस्थ देव जैसे कराता है, वैसे उससे होता है। इसमें दुर्योधन का क्या दोष है! पता भी तो नहीं हिलता परमेश्वर की इच्छा के बिना, उसकी क्या गिनात है कि वह स्वयंश होकर कोई स्वतन्त्र काय कर सके। दोष दत्ता है ता देव का देवो, दुर्योधन को नहीं।

सदापत एक निष्णात मनोविद् की तरह महर्षि व्यास ने मानव के रूपद्वय का समास शैली में सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। सारी मानवता इन दो वृहत् रूपों में ही विभाज्य है मयुमय मनुष्य के अधम रूप में, और, धममय मनुष्य के उत्तम रूप में।

मैंने भी बात है कि योरोपीय 'बोम्बे' की आधुनिक धारा में प्रवाहमान इंग्लैण्ड के ताजमाली साहित्य सम्राट विलियम शेक्सपियर ने भी अपने विश्व विख्यात नाटकों में मानव के दो ही भूत रूप प्रस्तुत किये हैं— देवतुल्य मानव जो विकास की अन्त क्षमताओं और सम्भावनाओं से परिपूर्ण सत्ता की सर्वोत्कृष्ट कृति है, और दूसरा वह गर्वीला मयुमय मानव जो अपने क्षुद्र स्वार्थों की सिद्धि हेतु एक 'क्रुपित कृपि' की भाँति ऐसा पशुवत् व्यवहार कर गुजरता है जिससे मानवता कराह उठती है और सम्य मानव जीवन के नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों का भीरण आचरण लगती है। 'हेमलेट' नामक प्रसिद्ध नाटककृति में उक्तान 'दयतुल्य मानव का सूक्ष्म और सतत चित्रण किया है—

'रितनी उत्कृष्ट कृति है मानव! विता
 निमल निवेद है उसका। क्षमता में है रितना अनन्त!
 विता स्पष्ट है रक्षाप्य है तट आकार गुण और गति में।

त्रिता प्रसादमय देवदूत-तुल्य कम बाल मे । शां मे
ठीक बीसा, जैसा है भगवा ।'

त्रितनी सुन्दर ह मानव की अवधारणा जिनके श्रेष्ठ स्वरूप का मात्र बालपि चित्र ही शैक्सपियर महोदय प्रस्तुत कर पाये है । तत्कालीन समाज मे सम्भवतः ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं था जो इस देवतुल्य मनुष्य का जीवन्त उदाहरण दे सके । ठीक भगवान जैसा व्यक्तित्व व्यास के महाभारत मे श्रीकृष्ण और कृष्ण द्वैपायन का था । परन्तु 'कुपित बपि' के समान मनुष्य की निवृष्ट छबिया से तो शैक्सपियर का साहित्य मरा पडा है । मानव के अधम रूप का मनावैज्ञानिक आलोचनात्मक विवरण उहाने स्पष्ट रूप से 'मेजर फॉर मेजर' (Measure for Measure) नामक नाटक मे इस प्रकार से दिया है—

'परन्तु मानव, गर्वोला मानव
अल्पकालीन सत्ता मे अनुवेष्टित,
समाधिब्रजन ह जिसमे वह अत्यधिक आश्रय ले,
रूप तुल्य सार उसका, एक कुपित बपि की तरह
उन्नत स्वर्ग मे अठथेलियाँ मयुमय करता एसी
त्रि आँसू बहायें देवदूत भी देख उह ।'

यह है शैक्सपियर द्वारा प्रस्तुत मानव का पार्श्विक स्वरूप ।

मनुष्य के परस्पर विरोधी गुण धर्म वाले देवी और दानवी स्वरूप के कारण मानव जीवन अत्यन्त रोचक, अतीव द्विधात्मक एक दुःखमय, एवढम अधपूरित और महत्त्वपूर्ण बन जाता है । परन्तु इस त्रिपादमय वैचित्र्य की अनेकता के पदों के परे एक गहन तथा व्यापक समन्वय के ऐक्य का आनन्दमय अस्तित्व है । मनुष्य पूर्णरूपेण स्वतन्त्र है अपने चयन मे, वह चाहे तो अनेकता के वैषम्य पथ को अपने जीवन का मुख्यस्रोत मान सकता है, वह चाहे तो अनेकता मे एकता की शाश्वत शोच के माग का आनन्ददायी शांत जीवन प्राप्त कर सकता है । अनेकता का माग नाना नाम-रूपात्मक पदार्थों का माग है, जिस पर काल का शासन है । इस शासन के नागरिक ही शान्ति शान्ति नियतिवाद के शिकार होने हैं । परन्तु एतत्त्व के सत्याजुगामी आत्मानुशासन द्वारा जीवन मे सच्ची स्वतन्त्रता का उपयोग करते ह और उनके इसी स्वातन्त्र्य दर्शन का व्यापहारिक रूप है समत्व की सामाजिक जीवन मे प्रतिष्ठा । यह मोक्ष का माग है ।

दुर्घोषन महावृक्ष मृत्युमयता का बाधक है और युधिष्ठिर महावृक्ष मृत्युञ्जयता का । मनुष्य स्वतन्त्र है अपने जीवन तरफ को बालमयी या बाल

जयी बनाने में । महर्षि व्यास स्पष्ट कहते हैं कि 'इदं' वाच्य सारा दृष्य जगत् कालाधीन है, यह 'इदं सर्वं' की जड़ है, काल ही अपने बस में करके उसे (इदं को) हड़प लेता है ।

कालमूलमिदं सर्वं जगद्वीज धनञ्जय ।

काल एव समादत्ते पुनरथ यच्छ्रुया ॥

—भीष्मपर्व 8 13

'इदं' सब का दृष्टा एव भाक्ता शुद्ध 'अहम्' कालाधीन नहीं है । यह 'अहं' विश्व की आत्मा है, एक, अलण्ड, चिन्मय समरस, स्ववश और अकाल । समस्त शास्त्रों और वेदों में यही जानने योग्य है, यही वेद और वेदविद् और वेदकृत् रूप में प्रकट होता है । स्वयं व्यास के परम वचन हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो

मत्तो स्मृतिज्ञानमपाह्वय च ।

वेदैश्च सर्वैर्अहमेव वेद्या

मदात्तकृद्वैदवि देव चाहम् ॥

—भीष्मपर्व

इस 'अहम्' का अपराक्षानुभव ही युधिष्ठिर नामक धर्ममय महाद्रुम पर लगने वाला समग्र पुष्पफल है । धर्ममय जीवन के निर्माणार्थ सत्य भाषण इन्द्रिय निग्रह और तत्परायणता अनिवार्य हैं । यह वेदविज्ञान का रहस्य है ।

वदस्यापनिपत्सत्य सत्यस्योपनिपद्म ।

दमस्यापनिपद्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम् ॥

शा प 299 13

यह महर्षि व्यास का ऋजुवाद है । अजुन की तरह ऋजुभाव से सम्पन्न हाकर ही वृष्ण की प्रसन्नता प्राप्त की जा सकती है । ऋजुता के आपादनाथ ही यह पाथेय है वेद का सार (उपनिषत्) सत्य (भाषण) है, सत्य का सार सयम (धर्म) है गम्य का सार मोक्ष है—जीवन की पूर्णता, स्नातन्त्र्य और समत्व का अद्भुत जीवन । यह आत्मानुशासन सबके लिए है । मानव मात्र इस अध्यात्म स्वातन्त्र्य और समता का जन्म से ही अधिकारी है । इस अधिकार के उपभोग-अनुपभोग में वह सबके समान है, पूर्ण स्वतन्त्र है—चाह वह साम्राट् जनक हो या सुदामा, अर्जुन हा या एकत्रय राजा परीथा हो या बालमुनि यासनदा शुक्रदेव । यह आत्मानुशासन ही परम नारायणत्व के प्रकटन की भूमिका तयार करता है, मानवीय गुणों से उसे विभूषित करता है स्वतन्त्र जीवन की श्रेष्ठता में दीक्षित करता है ।

महामारत मे इस आत्मानुगासन को ही धमद्रुम की सजा से अभिहित किया गया है। इस धमतरु के मूल मे समानता का उद्घोषक— 'समोऽहं सबभूतेषु न मे द्वेषोऽस्ति न प्रिय'—स्वयं वृष्ण है। इस समानता के अव्यय बीज— 'निधानं बीजमययम्'—मे से ही स्वतंत्रता का मानवीय गुण अर्जुन रूपी स्कंध मे प्रकट होता है। समानता ही मानवीयता का नरोत्तमता का, मूल आधार है और स्वतंत्रता उसका प्रत्यक्ष जीवन। अतः समानता और स्वतंत्रता मानव के नैसर्गिक दायित्व हैं, और जो इन मानवीय दायित्वों का उल्लंघन करता है— चाहे वह उल्लंघन धर्म की ओट में हो अथवा अधम-जय—वह मयुमय दुर्योधन है और उसका प्रतिनार करना स्वतंत्रता-प्रिय प्रत्येक मानव का परम दायित्व है। अर्जुन ने दुर्योधन की मयुमयता का खुलकर विरोध किया क्योंकि कौरवा ने मिलकर छलछद्म और अत्याय से पाण्डवों के स्वतंत्र जीवन एवं उनके अस्तित्व को समाप्त कर देने के लिए नानाविध पट्यंत्र रचे थे। स्वतंत्रता का अपहरण उतना ही घोर अत्याय है जितना कि उसे सहन करना। अतः स्वतंत्रता के मानवीय जीवन की पूर्णता हेतु दूसरों की स्वतंत्रता को मात्र मायता प्रदान ही नहीं करना है, अपितु उसके रक्षण और पोषण के पारन दायित्व को निभाना महामारतकार का स्पष्ट मतस्थ रहा है जिसकी पुष्टि धमराज युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ करने हेतु परामशदान से होती है।

स्वतंत्रता के इसी रक्षण-पोषण के मूल मे समानता के तत्त्व एवं अधि-पार का दर्शन होता है। वृष्ण दृष्टि मे सब समा है, वृष्ण दृष्टि आत्मदृष्टि का पर्याय है— 'अहमात्मा गुडाकेशः सबभूताण्यस्थितः' (गीष्मपत्र)। व्यास कहते हैं कि समानता को मानव धम का मूल भागो पर स्वतंत्रता मानवता का स्तम्भ धन जाती है। हम सबको अपने विचार, विश्वास आदि मे स्वतंत्रता अतीव प्रिय है। अतः दूसरों की मायताओं और उनके चिन्ता वणा के प्रति आदर युद्धि हमें रखनी चाहिए। स्वतंत्रता सबके लिए है और इसका प्राण-तत्त्व यह है कि 'जो स्वयं के प्रतिवृत्त हो बैसा आचरण हम दूसरों के लिये न करें'—आत्मा प्रतिबुलानि परेषा न ममाचरेत्। इसी से मनुष्य के वैयक्तिक और लोकजीवन मे स्वतंत्रता जय फल्याण की प्राप्ति होती है। वे कहते हैं— 'मनुष्यतोके यत् श्रेय पर मये युधिष्ठिर' (वनपत्र 183 88) हे, युधिष्ठिर? मनुष्यलोक मे जो फल्याण है, उसी को मैं श्रेयस्कर, एवं उत्तम मानता हूँ। स्वतंत्रता ही, जो समानता के मूल बीज से उत्पन्न एवं प्रकटित हो, मनुष्य जीवन और मायता के फल्याण की सबसे बड़ी विभूति है।

अतः महामारतकार की दृष्टि में माय वरी है जिसके चिन्तन और

चरित्र म समता का दशन हो और स्वतंत्रता का सवहितकारी व्यवहार ।

विलोमत जिस व्यक्ति व समुदाय के चिंतन और चरित्र म समता के दशन के स्यात पर धमनीया जय विपमता का स्वाव परक दशन हो और स्वतंत्रता के व्यवहार के स्यान पर स्वय की स्वतंत्र समृद्धि हेतु अय व्यक्तियों व समुदाय के स्वतंत्र जीवन की समृद्धि पर मयुमय प्रहार व कुठाराघात करने वाला अमानुषीय एव त्रिवेकहीन व्यवहार हो वह व्यक्ति 'भाव' नहीं है और वह समुदाय 'मानवीय' नहीं है । भारत व्यास की दृष्टि म न तो मानव का अम्युदय समाज के अम्युदय की बलिबदी पर सम्भव है और न ही समाज अपने उत्थात हेतु मानव के वैयक्तिक स्वातंत्र्य एव अम्युदय की अचना कर सकता है । दोना का परस्पर अमित्तव है मानव के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास ऐसे सामाजिक सु-वस्थापन के अभाव म सम्भव नहीं है जिसम समत्व दगन और स्वातंत्र्य जीवन की मानवीय प्रतिष्ठा न हो, पारस्परिकता के आत्मीय विस्तार का नाम ही धर्म है, और पारस्परिकता के अनात्मीय सकोच का नाम अधम । धममय जीवन प्रेम से परिपूण सवहित की कामता का पापक रहता है, अधममय जीवन मयुमयता से सिक्त स्वहितकारी गतिविधियों की पडमंत्रकारी नित्य तयी सरचना करता रहता है ।

निष्पत्त , व्यासानुसार जीवन म दा मूल प्रकार के मनुष्य हैं और दो ही प्रधान जीवन-पद्धतियाँ ह । मनुष्य या तो धममय है या 'मयुमय', और मानव जीवन के मूल्य इही दा प्रकार की दृष्टिया से प्रादुर्भूत मूल्य हैं जिनमे मेल कम और सधय ज्यादा है । धममय दृष्टि से सृष्ट पुष्ट और रक्षित जीवन मूल्या म समता ज य स्वतंत्रता की प्रधानता है, जिसके वाचित सरक्षण और सबद्धन हेतु सवस्य योछापर करने के लिए बटिबद्ध मनुष्य ही वस्तुत मानव का श्रेष्ठ स्वरूप है । स्वतंत्रता के रक्षण म ही मनुष्य की गौरव गरिमा है, मानवीयता है, उसके लिये कितना ही महगा मूल्य उस क्या न चुकाना पडे । मयुमय दृष्टि से पोषित और रक्षित जीवन मूल्या म कितना ध्यान अपने सुख और अपनी स्वाधीनता व समृद्धि का रहता है उता अय व्यक्तिया की यायोचित व सुख-स्वातंत्र्य समृद्धि पर नहीं रहता, इतना ही नहीं अयजनों की स्वतंत्रता और समृद्धि के अपहरण से स्वय के सुग और अहकार का पोषण होता हो तो वह किसी तिमन म अधम कोटि के जीवनघाती पडयत्रों की ब्यूह राना करने मे भी सवाचशील नहीं होता । प्रमगवश, इम महत्त्वपूण तथ्य का ध्यात मे रतना जरूरी है कि कौरवा का पक्ष अधर्म और अयाय का पक्ष है उनके समधक भीष्म और द्रोणाचार्य जैसे अतिरथी और महारथी हैं व सभ्या म अत्मधिव और उताही रीय पम्नि सामरिय प्रहार की दृष्टि से बेजाड

है, और वे युद्ध करने पर उतार है तथा संगठित है। परंतु पाण्डव सरया में अत्यंत कम और सैन्य दृष्टि से अपेक्षाकृत अल्पवली होने के साथ साथ असंगठित है, उनका पक्ष घर्म और पाण्डव का पक्ष है और वे युद्ध नहीं चाहते वरन् समस्या को बीच बचाव एवं वार्ता के माध्यम से हल कर लेना श्रेयस्कर समझते हैं। इतना अवश्य है कि सत्य और धर्म, मानवीय स्वतंत्रता और पाण्डव की प्रतिष्ठा हेतु तथा उत्तम जीवन के मूल्यों की परिरक्षा हेतु वे सब कुछ न्योछावर करना अपना परमदायित्व स्वीकारते हैं। इस दायित्व पालन की मानवीय प्रक्रिया में ही उन्होंने गौरवी द्वारा उत्तेजित और आरोपित युद्ध को, औचित्य की दृष्टि से स्वीकारा और श्रीकृष्ण के संरक्षण व निर्देशन में यह सिद्ध करके कि धर्म व पाण्डव के पक्ष की ही अंततोगत्वा जय होती है, चाहें वे एकाकी और अल्पसंख्यक ही क्यों न हों उन्होंने मानवीय जीवन के उच्चतम आदर्शों और नैतिक जीवन के मूल्यों की मशात में उन्नत एवं प्रज्वलित रसा और उका यह पराक्रम युगयुगांतर में युवा-पीढ़ी के चिंतन-शील, नैतिक मूल्यों के नेताओं को उस मशात की ली को प्रदीप्त रखने की प्रेरणा प्रदान करता रहा है। महामारत में वर्णित कौरव पाण्डवों के भयंकर विनाशकारी युद्ध में इन दो जीवन मूल्यों के भीषण संघर्ष का उत्कृष्ट दशा होता है, जिसमें अंततोगत्वा मानवीय समता जय स्वतंत्रता के पक्ष की विजय होती है। पाण्डवों की जय मानव स्वातंत्र्य के सत्य की जय है, धर्म की जय है, मान्यता की जय है।

द्वितीय प्रकरण

‘न च कश्चित् शृणोति माम्’

मानव जीवन में मूल्यों का संघर्ष

मानव जीवन विकास की अनन्त सम्भावनाओं और सामर्थ्य के तत्त्वों से निर्मित एक ऐसा ऊर्जा पुञ्ज है जिसके सम्यक् समयित संचालन से उन सम्भावनाओं की उत्तरोत्तर पूर्ति और उस सामर्थ्य का क्रमशः अभ्युदय और वृद्धि विकासो मुखी जीवन धारा में अनुभूत और संपादित होने लगता है। इस समयित संचालन में ही मानव जीवन की पूर्णता व साधकता है, जीवन में जय का उद्घाटन है नर की नरोत्तम में और नरोत्तम की नारायण में क्रमिक प्रतिष्ठा है। इस संचालन शक्ति का अक्षय स्रोत मानव की अडिग धमनिष्ठा है। धम ही, व्यासानुसार, मानव और मानवता के चरम विकास का सनातन मूल्य एवं माग है। विपरीतत धम विरोध एवं धम की अवज्ञा का माग मानव और मानवता के विनाश का राग युक्त मोह माग है। मनुष्य माग चयन में स्वतंत्र है वह दोगा में सन्निही एक माग का मुख्यापेक्षी हो सकता है। विकास के धममय सनातन माग में मयम द्वारा जीवन को संचालित करता हुआ मानव अपने वैयक्तिक जीवन में आत्मोदय और सामाजिक जीवन में हितकारी प्रेरणाओं और मगनमयता के सामूहिक तथा सहकारी अणुष्ठान का प्रवृत्तन कर सकता है। और इसके विपरीत वह वैयक्तिक अभ्युत्थान एवं गौरवाजन हेतु काम श्रेय तथा शोभ से निर्मित गर्वीला धमविरोधी माग का अवलम्बन कर ‘निषिध नरवस्येद द्वार नाशनमात्मन’ वाले स्व और स्व समर्थकों के सवनाग का वारण भी बन सकता है, जैसा महर्षि लोमण मुषिष्ठिर को कहते हैं—

‘पत्यधर्मेण तस्त्वो गद्राणि पश्यति ।

ततः सपत्ताञ्जयति समूहान्नु चिन्दयति ॥

वाचने 94 4

अर्थात् पहले अधम द्वारा मनुष्य बहना है फिर अपने मनो-नुकूल मुग सम्पत्ति रूप अभ्युदय का दान करना है, तदपश्चात् वं शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है और अन्त में जन्म मृत्यु तद्विना तट्ट ही जाता है। जत महाभारतकार ने

के पश्चात् विधवा माता बु-ती सहित पाँचा पाण्डव बालकों का हस्तिनापुर में प्रथम आगमन है, वार इस चरण का अंतिम बिन्दु पाञ्चाल नरेश की पुत्री द्रौपदी के स्वयम्बर में दृष्टव्य है, तथा इस चरण की भूत घटनाओं में दुर्योधन आदि द्वारा भीम की बालकूट विष दानर जल-हीडा और प्रीति भोज के वहाने गंगा के प्रवाह में हत्याथ फेंक देन का पडयन्त्र, द्रोणाचार्य द्वारा द्रुपद राजा से प्रतिशोध, लाक्षागृह-दाह, हिडिम्ब का वध, वनासुर संहार और द्रापदी स्वयम्बर आदि समाविष्ट हैं। द्वितीय चरण का श्रोगणेश द्रौपदी स्वयम्बर के पश्चात् पाञ्चाल नरेश के यहाँ से कु-ती और द्रौपदा समेत पाचा पाण्डव वीरा का घृतराष्ट्र के निमन्त्रण पर पुन हस्तिनापुर में प्रवेश के साथ होता है, और इसकी इति श्री द्रौपदी गौर हरण की जघन्य अमानवीयता तय विवशता में होती है, इस चरण की प्रधानतम घटनाएँ ये हैं— पाण्डवों को राज्य देन के सम्बन्ध में कौरवों का विचार और विणय, अर्जुन का नियम भङ्ग के कारण वानवास, अर्जुन का वनवास काल में उलूपी और चित्राङ्गदा के साथ विवाह और चित्राङ्गदा से बब्रुवाहन का जन्म, सुमद्रा हरण, साण्डव दाह, जरासन्ध वध, युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ का प्रारम्भ, शिशुपात वध, राजसूय यज्ञ की समाप्ति, दुर्याधन की जलन और क्षत्रुति-संचालित चूत में युधिष्ठिर की पराजय, द्रौपदी का कौरवों की सभा में अपमानित होना, पुन चूतक्रीडा और पाण्डवों को तेरह वर्ष का वनवास। तृतीय चरण का सूत्रपात पाण्डवों के वनवास से होता है और उसकी समाप्ति सरह वर्षों के वनवास के बाद अपने स सम्मान और शान्तिपूर्ण जीवनयापन हेतु पाण्डवों के समी प्रयासों की विफलता, श्रीकृष्ण का शान्तिदूत के रूप में घृतराष्ट्र और दुर्योधन की सभा में जाना और असफल होने के साथ साथ कौरवों द्वारा पाण्डवों पर युद्धारोपण में होती है। इस चरण में अनेक घटनाएँ होती हैं जिनमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाएँ अर्जुन विराट युद्ध, गंधमादन पवत पर दुर्योधन का गवहरण, जयद्रथ द्वारा द्रौपदी हरण, यक्ष प्रसन्न, तीक्ष्ण वध, गोधन-हरण, कौरवों द्वारा विराट राज्य पर आक्रमण और उनकी छत्रवेग में अर्जुन द्वारा पराजय, संधि शान्ति वात्ताएँ, और अंततोगत्वा कौरव-पाण्डव महायुद्ध का आरम्भ, युद्ध की भीषणता और परिसमाप्ति।

प्रथम चरण में जीवन अस्तित्व स्वयं मृत्यु वचकर प्रकट होता है। जीवन की पवित्रता का स्वीकारना महत्त्वपूर्ण है, पर उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि उस पवित्रता की वृद्धि एवं अस्तित्व के संरक्षण-संबद्धन हेतु मानव सदा तत्पर और सन्निय रह। दुर्योधन आदि समस्त कौरव राजकुमार पाण्डव-यालका की हस्तिनापुर में विद्यमानता की सन्निधि भी नहीं चाहते, विनोदकर

भीम बल और साहस सब सब जलत है। अतः उहान भीम का मार डालने का एक जटिल पद्यत्र रचा, जिसका विवरण विवेचन प्रथम वक्ष किया जायेगा। भीम की हत्या करके तथा युधिष्ठिर आदि अन्य पाण्डवों को कैद म डालकर निष्कण्टक राज्य करना दुर्योधन का मूल लक्ष्य रहता है। यह भूल जाता है कि पाण्डव उसी के भाई हैं, उनका भी राज्य पर उतना ही अधिकार है जितना कि इनका (कीरवा का), उह भी स्वतन्त्र और मानवोचित जीवन यापन करने का अधिकार मिलना चाहिए। दुर्योधन स्वतन्त्र जीवन की पाण्डव माग को ठुकरा कर, उनके अस्तित्व को ही मिटाने में प्रयत्नशील होकर जीवन विरोधी पद्यत्र का रचयिता बनता है। अतः प्रथम चरण में मानव-जीवन के अस्तित्व की पवित्रता सतरे में पडती है। पाण्डव बालका का प्रयत्न इस पवित्रता को, बिना किसी विज्ञापन के, अधुण रखने में है, परंतु दुर्योधन का पूरा प्रयत्न उसे नष्ट और छिग मित्र कर देने में है। मानव जीवन मृत्यो के सघप का यह सद्भातिक घरातल है जीने का अधिकार मानव मात्र को समान रूप से उपलब्ध होता चाहिए।

द्वितीय चरण में सघप सूक्ष्म स्तरीय हो जाता है। प्रथम चरण में मृत्यो का सघप अस्तित्व प्रधान अधिक है, परंतु द्वितीय चरण में यह सघप अस्मिता प्रधान हो जाता है। अस्तित्व प्रधान सघप की प्राणदा शक्ति जीन के अधिकार से प्रादुर्भूत होती है, अस्मिता प्रधान सघप स्वाधीनता के गौरव तथा समानता की अनिवायता से मण्डित रहता है। इस सघप में पाण्डव शारीरिक अस्तित्व की सीमाओं का अतिमरण कर मन की अस्मिता के उच्च और सूक्ष्म स्तर का स्पश करन लगते हैं। इसमें एक तरफ स्वतन्त्रता, समता, स्वाभिमान, और 'यायपरक' मानवीय जीवन जीने और जीने देने की परम्परा का घम प्रवाह है, और दूसरी तरफ स्वाथ परक स्वतन्त्रता, असम व्यवहार और मनोमालिंय एव मात्सय जय यायविहीन परम्परा का अमानुषीय प्रवाह है। इस चरण में सक्षेपत नराधमता और नरोत्तमता के जीवन मृत्या में भारी टकराव है। इस टकराव में मानुषी भाव की श्रेष्ठता और निकृष्टता का बहुरंगी चित्रण है। लगता है महर्षि व्यास जीवन मृत्या के सघप का अवन द्वारा मानव-नवोत्थान का काव्यमय आह्वान कर रहे हैं।

तृतीय चरण में इस सघप का स्तर और अधिक गहरा, और सूक्ष्मतर हा जाता है। इसमें सघप मात्र शारीरिक या मानसिक गुणा से ही प्रादुर्भूत न होकर अध्यात्म प्रेरणाओं में सम्पृक्त और सयोजित होने लगता है। प्रथम चरण के सघप में मनुष्य का नरत्व जय पथ का अनुगामी होता है, द्वितीय चरण के सघप में नरोत्तमता जय-पथ गामिनी बनती है और तीसरे चरण में

मानव के जीवन में नारायणत्व का द्वार उभूवत होता है और सजय इस सत्य को प्रामाणिकता का मशोगान यह वह कर करता है—

यत्र योमेवयर वृष्णो यत्र पार्थो धुधुर ।

तत्र श्रीविजया भूतिध्रुवा नीतिमतिमम ॥

भीष्म पव

अत मानव जीवन मूल्या के सघप का महाभारतीय इतिहास केवल कौरवो और पाण्डवा के प्राचीन कालीन जीवन मूल्या के सघप का ही इतिहास नहीं ह, यह मानव मात्र के मकटमय जीवों में नित्य उठने वाले जीवन आदर्शों व मूल्या के सघप का सनातन कथानक है । मानव का जीवन सदा निष्कण्टक, स्निग्ध धारामय और सफलतापूण नहीं होता । अस्तित्व विहीन हो जाने और अस्मिता पर दु सहा अपमान की चोटो के लगने से मरणच्छा के दुबल क्षण भी जीवन में आत हैं । महाभारत ऐसी धार सवटा पन्न अवस्था में जीने की नयी सूझ, साहसिकता और कला प्रदान करने वाला काव्य सिद्ध होता ह । वस्तुतः विपत्ति वैपम्य के परीक्षा काल में पाण्डवा की नीति धम दृष्टि और अपरिमेय साहस के साथ मानव बिस प्रकार अपन स्वातंत्र्य और सम्मान का रख सजता ह, महाभारत इसी का धुधुर साहित्यिक दपण ह ।

प्रथम चरण

एतिहासिक पृष्ठ भूमि : तत्संबंधी सत्मावेपणाथ यह समीचीन हागा कि सर्वप्रथम हम महाभारत के मूल कथानक से अपना परिचय स्थापित करें । उत्तर वदिन काल में हस्तिनापुर में पुरुवशियो का राज्य था । तत्कालीन जन पदा और गणराज्या में वह सबसे अधिक प्रतिष्ठित राज्य माय था । जब पुरुवश सत्तानहीन होने के कारण दुदशा को प्राप्त हुआ, तब महाराजा शातनु के पुत्र भीष्म ने महारानी सत्यवती एवं अन्य मंत्रियो आदि के परामश से, पराशर पुत्र वेदव्यास से अनुरोध किया कि वे दिनगत महाराजा की विधवा पुत्र-वधुआ का नियोग व्यवस्था से सत्तान लाभ करवावें । पुत्र विहीन वैधव्य राज वधुआ का अवश्य खलता था, परन्तु पराशर नदन वेदव्यास का प्रचण्ड तपोमय वृष्णनाय व्यक्तित्व उह और भी अधिक असहा था । सवथा असहा स्थिति तो यह थी कि वश-परम्परा के विच्छिन होने पर पुरुवश की राज्य सत्ता विनष्ट हो जायेगी । अत यह उचित था कि श्रद्धेय गणय भीष्म और राज माता सत्यवती के परामश का आदर किया जाये । इसी दृष्टि से अम्बिका, अम्बातिका और अम्बा ने वृष्णद्वैपायन के साथ नियोग समागम हतु स्वीकृति दी । परन्तु द्वैपायन के दर्शन मान से अम्बिका ने भयनीत और विह्वल होकर

अपने नेत्र मून्द लिय और फलत उसकी काग म जमा घ घतराष्ट्र का जन्म हुआ, अम्त्रालिका के गात तो द्वैप को देगत ही सिधिल पड गये मुह पीला पड गया और परिणामत उसे पाण्डु पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई । अपनी दाना यहिना की भीतिगाथा से आतकित अभ्या ने अपना निणय बदल दिया और अपनी जगह उसने अपनी दासी को व्यास क पास भज दिया । दासी के समपण भाव की विलक्षणता के फलस्वरूप उसके त्रिदुर नाम का प्रतिभावान् और प्रज्ञा वश पुत्र उत्पन्न हुआ । घृतराष्ट्र पाण्डु से बड़े थे, पर जन्माघ थे, अत पाण्डु का राज्यसिंहासन पर बिठाया गया । विदुर के जन्मजात उच्च लक्षणा को देखकर भीष्म ने उसका लालन-पोषण भी राजकुमारो की तरह ही किया । आग चल कर यही विदुर धमनीति के प्रसिद्ध व्याख्याता हुए । सभी राजकुमार बली, शस्त्र शास्त्रविद्या पटु और गुणी सिद्ध हुए । घृतराष्ट्र का विवाह गा धार नरेश की कन्या गांधारी से हुआ, जो बड़ी तपस्विनी और पतिव्रता स्त्री थी । अपने जन्माघ पति की तरह उसने भी जीवन भर के लिए अपनी आसा पर पट्टी बांध ली । व्यास के आशीर्वाद से घृतराष्ट्र के एक सौ पुत्र और एक कन्या पैदा हुई । दुर्योधन सबसे बड़ा पुत्र था और न या का नाम दु शला था, जिसका विवाह सिंधुराज जयद्रथ से हुआ । घृतराष्ट्र की दूसरी पत्नी से युयुत्सु नामक पुत्र हुआ ।

पाण्डु का विवाह यदुवशी राजा धूरसेन की पुत्री पृथा से हुआ जिसका नाम कुंती भी था क्योंकि उसका पालन धूरसेन के फुफेरे भाई कुंतीमाज ने किया था । कुंती वृष्ण की बुआ थी, साधु सती की सेवा करने वाली मुलक्षणा थी जिसने दुर्वासा ऋषि को प्रसन्न करके एक ऐसा वरद मंत्र प्राप्त किया जिसके जप अनुष्ठान से वह किसी भी देवता का आह्वान करके पुत्र प्राप्त कर सकती थी । ऋषि वचन की सत्यता की सिद्धि देखने के बौतूहल से कुंती ने सूर्य का मन्त्राह्वान किया और अचिच्छा होते हुए भी कुमारवस्था म सूर्य के अनुग्रह से उसे पुत्र प्राप्ति हुई । लाक्लाजवश कुंती ने नवजात शिशु को एक पटी म बंद करके गंगा मे बहा दिया जिसे कौरवा क अधिरथ नामक सारथि ने तरता हुआ पाया, उसे पाला पोसा जो भागे चल कर वृष्ण के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

भीष्म की मन्त्रणा और व्यास के परामश से पाण्डु ने हस्तिनापुर म लोक हितकारी राज्य प्रशासन की स्थापना की तथा अपनी विधेकजय विनमता, अपूव पराक्रम और सतत विजयशीलता से वे सम्राट की उपाधि से विभूषित हुए । मृगया उनका राजाचित्त व्यसन था । एक बार आनेट करते समय पाण्डु के गाराघात से मृम और मृगी ने रूप म ऋषिपुमार विदम अपने पत्नी के

अनुसार सारी मानवता का दृष्टि वाले मनुष्या में ही विभाज्य है पणमय दृष्टि वाले व्यक्ति जो मनातन धर्म की विकाश का सूत्र स्वीकारते हैं, और मनुष्यमय अधर्म दृष्टि वाले जन जो मनुष्यी आचरण को ही अपनी प्रगति का सार सबस्व मानते हैं। इन दो दृष्टियों से व्यक्तिगत और सामाजिक स्तर पर जिन जीवन मूल्यों की सृष्टि होती है, उनमें परस्पर प्रतिलिखित सधर्म धर्म की परिपक्व अन्ततः धर्म की प्रतिष्ठा और अधर्म की पराजय में ही होती है ऐसा महर्षि वेदव्यास का पुष्ट और स्पष्ट मत है।

प्रसंगवश यह ध्यातव्य है कि महाभारत में वेदव्यास ने जिस धर्म का स्वरूप निधारण किया है, वह अत्यन्त ही विशद और व्यापक है। तात्त्विक दृष्टि से धर्म समूचे विश्व का अलिखित सविधान है, पूरे ब्रह्माण्ड का नियामक तत्त्व है— 'धर्मो विश्वस्म जगत् प्रतिष्ठा' अर्थात् धर्म ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की प्रतिष्ठा है, जगत् का आधार है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से 'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे'—यथा के अनुसार धर्म मानव जीवन का वैयक्तिक और सामाजिक स्तर पर, आत्मसमय के आधार पर, सम्यक् व्यवस्थापन ही है। अतः तत्त्वतः, धर्म सावकालिक और सावभागी है, मनातन और अनादि है, अरण्य और अविभाज्य है, तथा व्यावहारिक स्तर पर धर्म दश कालानुसार नाना रूपों में व्यक्त होता है, स्थान और समय की गवाक्षा के समाधान एवं आकाशाओं की पूर्ति हेतु तत्कालीन विद्वद् समाज द्वारा उसका माजन, सजा, परिमाणन होता रहता है। 'बहुद्वारस्य धर्मस्य चेहास्ति विफला क्रिया'— धर्म के बहुत से द्वार हैं जिसके द्वारा धर्म अपनी अभिव्यक्ति करता है तथा धर्म की कोई भी क्रिया विफल नहीं होती (शांति पर्व 174/2)। यद्वा द्वार युग दृष्टा मनीषिणा के पुष्ट मत व आचरण मुग्ध ही तो हैं। तदथ ही धर्मचरण सदा तथा सधर्मा धर्माधीन है।

धर्म के इन विभिन्न द्वारों से व्यक्त होने वाले धर्म के रूपों के पीछे और मूल में जो सार तत्त्व छिपा रहता है वह महर्षि व्यास के इस चिर स्मरणीय पद्य में उद्घोषित है—

श्रयता धर्म सबस्व श्रुत्वाचाप्यवधायताम् ।

आत्मभग्नं प्रतिबुलानि परेषां न समाचरत् ॥

अर्थात् 'अपना लिए जो वस्तु प्रतिकूल हो वह दूसरों के लिए कभी नहीं करनी चाहिए'—धर्म का यह मौलिक तत्त्व महाभारतकी दृष्टि में धर्म का सार सबस्व है। वस्तुतः मानव मात्र के लिए जगत् में सबश्रेष्ठ और प्रियतम वस्तु 'आत्मा' ही है क्योंकि वही सत्य का केन्द्र तत्त्व है, जीवनाधार है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं गच्छति'—आत्मा की कामना से ही इदं वाच्य यह सब कुछ प्रिय लगता

है, आत्मा से ही उस सबकी महत्ता है, स्वतः उस पदार्थों एवं वस्तुओं का कोई मूल्य नहीं है। युगबोध की पीठियाँ म अमिध्यक्त एवं ही धम के ताना रूपों में इसी तत्त्व की पुष्टि होती रहती है। विश्व के सदन में धम जगत् का सघातक व नियामक है, सृष्टि का सविधान है, व्यक्ति के सदन में धम मानव जीवन की आचार-संहिता है जो मनुष्य को वस्तुस्थित दशन व पालन में दीक्षित करती है, एवं व्यष्टि जीवन को समष्टि जीवन के सामरस्य में नित्योन्नत एवं प्रतिष्ठित करने हेतु आह्वान करती है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' इसी आह्वान का अत्यन्त मानवीय उद्घोष है। अतः धम की व्योमवद् प्रतिष्ठा है, वह सब का धारक है, वही सब में अनुस्यूत है वाप्ट में अग्नि की तरह, सभी उसी से आच्छान्ति हैं जग आकाश से पृथ्वी आदि।

जिस प्रकार आकाश मानव की रचना नहीं है, उसी प्रकार धम जो विश्व का सविधान है वह मानव मेधा की उपजन होकर विश्वाधिप की आत्म सामर्थ्य है जिससे समूचे ब्रह्माण्ड का नियमन व शासन संचालन होता है। उस नियम में दीक्षित व अनुशासित होना ही धम का दशन व पालन करना है, इसी से धम का सामर्थ्य मानव जीवन को व्यष्टि समष्टि के सामरस्य में प्रतिष्ठित कर उसे नर से नरोत्तम भाव में और तदनन्तर नारायणत्व में जाने आत्म स्थिति में सदोदित कर देता है। यह समत्व का स्वातन्त्र्य जीवन व मोक्ष दशन है। महर्षि व्यास के शब्दों में।

वेदस्योपनिषद्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमम् ।

दमस्योपनिषद्मोक्ष एतदसर्वानुशासनम् ॥

अतः धम मूलतः एक अनुशासनवद्ध जीवन की प्रेरणा है, स्वतन्त्र विवेक द्वारा चयनित कार्यान्वित जीवन है। आत्म समय (दम) धम का साधन है, आत्मा नुभूति नरोत्तम भाव में मोक्ष का द्वार है, आत्म साक्षात्कार एवं नारायण प्राप्ति धम की चरम सिद्धि है। सारतः धम का अन्तिम मानव को एक ऐसे अनुशासन में भर्षादित करना है जिससे वह ससार में जीवन व्यापन करता हुआ जीवन के घोर सग्राम में अपने भीतर और बाहर के अवरोधों एवं अरिओं पर विजय प्राप्त करता हुआ मनुष्य मात्र की, सर्वोत्तम भाव से, उन्नति में दत्तचित्त हो जाये और शनैः शनैः सब प्रकार की सर्वांग मनोवृत्तियों से अपने आपको अलिप्त और मुक्त रखता हुआ वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समता और स्वतन्त्रता का सहज और अविचल उपाजन कर सके। यही धम का असली और वैश्विक रूप है। मनुष्य मेधा द्वारा युगबोध की भूमिका में प्रतिपादित एवं परिमार्जित धार्मिक मत एवं सम्प्रदाय इसी सनातन धम के वैसे ही सङ्घटित रूप हैं जैसे अखण्ड आकाश में मानव हाथों द्वारा निर्मित भव्य

भवन अट्टालिकाया प्रयोगशालाओ आदि मे अनुस्यूत आवाश। परंतु वास्तविक धर्म का पालन करना लोहे के चने चवाना है। अतः परिणाम कल्याणमय होने पर भी अधिनाश जन धर्म माग को नहीं अपनाते क्योंकि उसका प्रारम्भ कठिनाइयो और बलेशो से भरा होता है। स्वयं वेदव्यास मनुष्यों के इस धर्म विरोधी भाव का दिग्दर्शन कराते हुए लिखते हैं।

ऋष्य बाहुर्जिरोम्येप न चक्रश्चिच्छृणोति मे।

धर्मादथश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥

‘मैं अपनी मुजा उठा कर उच्च स्तर से पुकार रहा हूँ, परंतु कोई मेरी सुनता ही नहीं। धर्म से अथ उत्पन्न होता है, काम तृप्त होता है। फिर क्यों कर मनुष्य धर्म का सेवन नहीं करता?’

महाभारत का युद्ध भी धर्म तथा अधर्म के बीच उग्र सघर्ष का वाक्योद्गार है जिसमें पाण्डव धर्म के पक्षधर हैं और कौरवराज दुर्योधन आदि अधर्म के। पाण्डव पुरुपाथ चतुष्टय— धर्म, अथ, काम और भोग— की मानवीय प्रेरणा से जीवन में समत्व और स्वाधीनता की सबभगलमयी प्रतिष्ठा का प्रतिनिधित्व करते हैं, दुर्योधन के संरक्षण में कौरवगण पुरुपाथ द्वय— अथ और काम— की प्रबल प्रेरणा से जीवन में वैयक्तिक स्वातंत्र्य एवं सत्ता समृद्धि हेतु मत्स्य-याय के प्रवृत्तन का प्रतिनिधित्व करते हैं। सारा मानव समाज, व्यासानुसार, इन दो जीवन दशक एवं मूल्यों व पद्धतियां वाले मनुष्यों में ही विभाज्य है, जिसका चित्रण व्यासजी ने ‘धर्ममय’ और ‘म-धुमय’ महाद्रुमा के प्रतीक द्वारा किया है। इतिहास के एक युग का यह सत्य जिन का जीवन मूल्यों के मध्य भीषण एवं विध्वंसकारी टकराव का घातन करता है, उस सघर्ष की हृदय-विदारिणी गज प्रत्येक युग में प्रगतिशील मानव व राष्ट्र को सुनाई पड़ती रही है। वर्तमान काल में, जब विश्व इक्कीसवीं शताब्दी में प्रवेशाथ उद्यत और उद्यमशील है, इन जीवन मूल्यों के संकट व सघर्ष की टकार आज भी श्रव्य है, और त्रिवेकशील मानव नेतृत्व तदथ ही भावी समर के पूर्वभाग में भीत और धक्काकुल है।

युद्ध के फठोर यथाय की अत्यन्त विस्तृत और मानवीय भूमिका में वेदव्यास ने मानव अस्तित्व के महनीय मूल्यों के प्रश्न को लेकर मानव-जीवन की संप्रयोजनता और निष्प्रयोजनता की गूढ़ समस्या को स समाधान प्रस्तुत करने का महत्त प्रयास किया है। यदि साहित्य जीवन की समीक्षा है तो मानव-अस्तित्व और अस्मिता की दृष्टि से यह विवेच्य है कि क्या मानव जीवित का कोई प्रयोग है, यदि है तो यह क्या है, और क्या उस प्रयोजन सिद्धि में मनुष्य स्वयंत्र है? या, मानव जीवन एक निष्प्रयोजन प्रवाह मात्र है जिसमें उतार

वद्यान की वटु मधु अणुभूनियाँ हिलोरे रोती हैं, जिसमे वहाव क हर टेढ़े मेढे मोह पर निराशा के धपेडा के याग के साथ साथ अत्पासा की किञ्चित् घूमिल धवलता का भी दशन होता ह और विरार जाता है, और मानव पुरजोर प्रयत्नो के पश्चात् भी अपने आपको विधि द्वारा नियन्त्रित, निबल और निस्सहाय इकाई मात्र अनुभव करने लगता है। क्या मनुष्य स्व जीवन निर्माण मे स्वतः है या परतन्त्र ? मानव मेधा के उभेप के रूपकाल से ही चुनौति भरा यह प्रश्न उसकी प्रज्ञा से समाधान की मानवोचित मांग करता रहा है। प्रत्येक युग के दासतिका, साहित्यकारो, वैज्ञानिको, तलाकारा जोर चितन शीत मनुष्यो के चिद्गगन मे इस प्रश्न की विद्युत्-कीच का पला पडा है। वेदाचार्यो और औपनिषदिक ऋषिया ने भी इस सम्बन्ध मे मननीय चितन प्रस्तुत किया है। भले ही वह चितन इस चुनौति के अतिम समाधान के रूप मे मायन हो, पर जिस गहराई से मनन और मथन के उपरांत उन्होने स्नानुभवजय चितन सृष्टि की है, वह भावी विचार हतु एक ठोस धरातल और मयेष्ट दिशा ता मूत्यन्तु निरूपण करती है। महाभारत मे भी इस प्रश्न की स्पष्ट शतक के साथ इसके समुचित समाधान हेतु वदयास द्वारा किये गये गम्भीर मानवीय आर साहित्यिक प्रयास का दशन होता है, जिसे भारतीय मनीषा और ऋतुम्भरा प्रना ने शास्त्रीय गौरव और औपनिषदिक गरिमा की पावनता से मण्डित किया है। तदथ ही, महाभारत एक कुक्षेत्र के भीषण संग्राम मान का का याद्दन न होकर मनुष्य जीवन को तथा जीवन मूल्यो के सघप को समग्र दष्टि से देखने परराने और उसमे अतनिहित जीवत के गहरे और व्यापक अथ का गयेपणात्मन उदघाटन करने वाला सवरसमय महाकाव्य है। सारत महाभारत भारतीय सामाजिक जीवत और सस्वृति के इतिहास के साथ साथ मानव मान के जीवत मूल्यो और अतद्वद्वा का सावकालिक काव्य दपण भी है। सर्वोपरि तथ्य तो यह है कि महाभारत लक्ष्यनिष्ठ और सघप शीत मानवता के जीवत प्रवाह का कायमय गगावतरण है।

जीवन मूल्यो का सघप तीन चरण

महाभारत के घोर एतिहासिक महायुद्ध की पूवपीठिका के सम्यक आलोडन से प्रमुख घटनाओ के मूल म क्रियाशील मानव दष्टि तथा दष्टि यविध्य से उत्प्रेरित विचार एव व्यवहार शृखलाओ के अनुस धान मूलक समालोचन से, तथा घटना चक्री की गति प्रदान करने वाले प्रधान चरित्र नायका के वैज्ञानिक मनोविश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि महाकाव्य मे विशदित मानव जीवत मे मूरत्या के सघप के इतिहास का तीन प्रमुख चरणो म विभागा विभा जा सक्ता है। प्रथम चरण का आन्ति विदु पाण्डु के निघा

‘नाश्रोणिय श्रोत्रियस्य सारधि रथिन सत्त्वा ।

नाराजा पाथिगस्यपि तन्निपूर्वं किमिष्यते ॥’

द्राणाचाय को इस अनपेक्षित उपेक्षा और अपमान से असह्य धक्का लगा और विदीर्ण हृदय और वेदना से वे उल्टे पांव टौट गये। हस्तिनापुर में जानर भीष्म के आग्रह से उंहोंने पाण्डवा और वीरव राजकुमारों को धनुर्वेद का सामोपाग अभ्यास कराया और जब उनके शिष्य शास्त्रास्त्रविद्या में निपुण हो गये तब उंहोंने गुरु दक्षिणा की माग रखी कि पृथक् वे पुत्र राजा द्रुपद को जीत कर मेरे पास जीवित लाओ। पाण्डवों ने भीषण आत्ममर्ष किया और भीष्म और अर्जुन ने उंह परास्त करके बाघ कर गुरु चरणों में क्षीघ्र प्रस्तुत किया। तब द्रोण ने द्रुपद को शालीलाता से, परंतु प्रतिशोध भरे शब्दों में कहा—‘राजन् ! मैं एक बार पुन तुमसे मैत्री हेतु विनय करता हूँ। पहले तुमने राजा न होने के कारण मुझे मित्रता के अयोग्य समझा था, अर्जुन के दक्षिण का राज्य तुम करो और उत्तर का राज्य मैं रहूँ।¹ द्रुपद की स्वीकारना पडा, पर दोनों ही मैत्री में अपमान का आरोपण था, स्वैच्छा का माधुम नहीं।

द्रुपद इस प्रस्ताव चिन्ता और इच्छा से आक्रांत हुआ गये कि उनके एक ऐसा पुत्ररत्न पैदा हो जो द्रोण का प्रतिकार कर सके। मात्र क्षात्र वरा का अपर्याप्त जान कर द्रुपद ने ब्रह्मतेज की अपेक्षा की।² कल्माषपाद राजा के नगर के समीप वाले आश्रम में याज्ञ और उपयाज्ञ ब्रह्मनिष्ठ, तपोनिधि एव अत्यन्त मेधावी मन्त्रवेत्ता ब्राह्मण थे। उपयाज्ञ के मना कर देने पर उसके बड़े भाई याज्ञ ने द्रुपद राजा के मनोरथ की पूरा करने हेतु विधिवत् यज्ञ किया। हवन के पूण होने पर याज्ञ ने रानी को बुलाया और कहा कि ‘तुम क्षीघ्र ही यह अग्निमन्त्रित हविष्य ग्रहण करा, एक कन्या और एक पुत्र तुम्हें प्राप्त होगा।’ रानी ने कहा—‘ब्राह्मण देव ! इस समय मेरे मुह में दिव्य गन्ध की वस्तुएँ लगी हुई हैं। अङ्गों की अङ्गराग से अनुरञ्जित किया गया है, इसलिए स्नात किये बिना मैं यज्ञ का हविष्य कैसे ग्रहण कर सकती हूँ। आप धोड़ी देर ठहरिये।’ याज्ञ ने कहा—‘तुम आआ, या न आओ, कुछ हानि नहीं। मैं अग्निमन्त्रित हविष्य अग्नि में छोडता हूँ, यज्ञमान की इच्छा अवश्य पूण होगी।’ आहुति छाड दी गई। तत्क्षण अग्नि क समान तेजस्वी, देवताओं के समान सुंदर किरौट भुकुटधारी, उत्तम त्र्यङ्ग, कवच, बाण धारण किये एक कुमार घोर गजना करत हुए यज्ञ कुण्ड की अग्नि में से प्रकट हुआ। उसी समय यह आकाशवाणी भी हुई कि द्राणाचाय की मृत्यु इसी कुमार द्वारा होगी। इसका

1 सम्भवपत्र 137 70

2 सम्भवपत्र 137 70

नाम धृष्टद्युम्न पडा। देखते-देखते उसी काल मयज्ञ की अग्नि से एक श्याम वर्णा, विद्युत् तुल्य कांति से समन्वित, रूप गुण और सौन्दर्य की मूर्ति भी प्रकट हुई। यही द्रुपद सुता होने से द्रौपदी, श्यामवर्णा होने से कृष्णा और यज्ञ से प्रकट होने से याज्ञसेनी कहलाई। उसके प्रकट होने पर भी एव आकाशवाणी हुई कि यह स्त्री रत्न क्षत्रिय कुल के नाश का कारण बनेगी, देवताओं का काय सिद्ध होगा।

द्रौपदी के स्वयम्बर महात्सव में क्षत्रियवश विनाश का बीजाकुरन स्पष्ट हो गया। इस उत्सव पर आने वाले महत्त्वपूर्ण व्यक्ति अनेक थे जिनमें साम्ब, जरासन्ध, शिशुपाल, अनिरुद्ध, दुशासन, दुर्योधन, कण, भीष्म, बलराम, सात्यकि, शात्य, भगदत्त, कृष्णा, उद्धव, अश्वत्थामा, भीष्म, पाकुनि आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। महाराजा द्रुपद ने सबका यथोचित एव मध्य स्वागत किया। पराक्रमी वीरों के अतिरिक्त प्रतिष्ठित नामरिका और सामान्य जन-समूह की विद्यमानता स्वयम्बर की गौरव गरिमा को चरमता प्रदान कर रही थी। सुरमित और सुरम्य वस्त्रालङ्कारों से विभूषित द्रौपदी सुवर्णमयी जयमाला हाथ में त्रिय रत्नशाना में आई। उसके भाई धृष्टद्युम्न ने घोषणा की कि जो संकुल सम्पन्न, रूप और बल से युक्त पुरुष वहाँ रते घनुष को प्रत्यञ्चा पर चढ़ा कर उन पाँच बाणों से, मुक्त आकाश में, धूमते हुए यज्ञ में स्थित मत्स्य को, नीचे गल में उससे प्रतिबिम्ब को देगा कर बीम्ब देगा उसी को द्रौपदी जयमाल पहना देगी। इस उच्च घोषणा के साथ स्वयम्बर आरम्भ हुआ। दुर्योधन, शात्य, अश्वत्थामा आदि तो घनुष पर प्रत्यञ्चा ही न चढ़ा सके। वे घनुष के बटवे से पृथ्वी पर गिर पड़े। पर कण ने पलक भर में घनुष पर डोरी चढ़ा ली, बाण भी चढ़ा लिया और सब को लगा कि लक्ष्य बटवर धरती पर आ गिरने वाला है। इसी बीच द्रौपदी का उच्च शब्द गूँज उठा—'मैं सूतपुत्र का वदापि वरण नहीं करूँगी।' राय के निरादम्य हास्य के साथ कण ने घनुष वही रत्न दिया और बिना शरानुत्थान किये, वह थपमान को सींग में दबाये अपने स्थान पर लौट बैठा। बहुत से राजे महाराजे आये पर सकल न हुए। चेटिराज के राजकुमार शिशुपाल का प्रयत्न भी असफल गया, पृथ्वी पर उसके धुटने टिक् गये, गिरत गिरते बचा। तथैव बलशाली जरासन्ध और गाल्व भी हँसी के पात्र बने। जब सार क्षत्रिय वीर पक गये तो ब्राह्मणों की मण्डली में से छत्रेशी अर्जुन उठ खड़े हुए। ब्राह्मण उदास और गारी हृदय वाले हो गये कि जहाँ बड़े बड़े घनुषर सफल न हो यहाँ एक ब्राह्मण भला क्या कर लेगा। परन्तु दगत ही देखते क्षण भर में अर्जुन ने घनुष पर प्रत्यञ्चा टाल कर शरानुत्थान से पूर्ण से लक्ष्य वेधन

वर दिया और वह कृत्रिम मछली चत्र यत्र के भीतर से घरा पर भाँ गिरी
द्रौपदी ने जयमाल विजेता के गने में डाल दी ।

छत्रवेश में छिपे अर्जुन को कृष्ण ने पहिचान लिया । बलराम को समझा
सकेत दे दिया । दोनों प्रसन्न थे, परंतु अथ क्षत्रिय वीरा ने द्रुपद को दंडित
करने हेतु हथियार उठा लिये क्योंकि ब्रह्महत्या वे नहीं करना चाहते थे ।
दुर्योधन, कण आदि के आक्रामक प्रहार को भीम और अर्जुन ने पल भर में
निरस्त कर दिया । शत्रु भीम के प्रहार से पृथ्वी पर गिर पड़ा । कृष्ण के
धीर वचन से स्थिति में साम्य की प्रतिष्ठा हुई और द्रौपदी को लेकर भीम
और अर्जुन अपने विश्राम स्थान पर चले गये । वे एक कुम्हार के घर पर रुके
हुए थे । कुटिया के भीतर प्रवेश करने के पूर्व अर्जुन ने पुकार कर कहा, 'माँ !
देखो, आज हम कितनी अच्छी चीज लाये हैं ।' भीतर से ही माँ कुत्ती की
आवाज आई, 'बेटा, जो लाये हो उसे पाँचो भाई बाँट लो ।' कुत्ती के मिथ्या
न होने वाले वचनों ने द्रौपदी को पाँच पाण्डवों की पत्नी बना दिया ।

इस बात से महाराजा द्रुपद असमजस में पड़ गये, घम सकट आ गया ।
महर्षि वेद-यास ने इसका समाधान प्रस्तुत किया द्रौपदी के पूर्व जन्म के दृष्टांत
द्वारा ।

द्रौपदी के विवाह का समाचार सबन फैल गया । सब लोग जान गये कि
कुत्ती समेत पाँचो पाण्डव लाक्षागृह की प्रचण्डाग्नि से बच निकले हैं और वे ही
ब्राह्मण वेश में द्रौपदी को स्वयम्बर में जीत ले गये थे । हस्तिनापुर में इस
सूचना के प्रति द्विविध प्रतिक्रिया हुई । जिसरी समीक्षा सघष के द्वितीय चरण
में की जायेगी ।

जीवन मूल्यों का सघष-प्रथम चरण एक विवेचन

पाण्डु सम्राट के वन में निघात के पश्चात् विधवा सम्राज्ञी कुत्ती अपने
पाँच पाण्डव राजकुमारों सहित जब हस्तिनापुर में लौटी, तब से लगाकर
द्रौपदी स्वयम्बर तक के मध्यवर्ती काल में अनेक ऐसी घटनाएँ हुईं जिनमें दो
परस्पर विरोधी जीवन मूल्यों का सघष स्पष्ट दिखाई देता है, परंतु इस सघष
की प्रसरता व मृत्याङ्कनाथ केवल तीन प्रमुख घटनाओं की समीक्षा पर्याप्त
प्रतीत होती है । प्रथम चरण में तो यह सघष एक तरफा लगता है क्योंकि
दुर्योधन प्रणीत जीवन दृष्टि और मृत्यु आक्रामक रूप लेकर व्यक्त होते हैं जबकि
युधिष्ठिर प्रणीत जीवन आदर्श और मूल्य प्रशांत मानवीयता-जाति
रक्षात्मक रूप की मूल्य अभिव्यक्ति रक्षक होते हैं । भीम, अर्जुन आदि को मरणात्
पता ही नहीं है कि घृतराष्ट्र के पुत्र और उनके सहायक उनके प्रति गिराव ।

की दृष्टि ररते ह, उहे यह जानने की आवश्यकता ही नहीं थी कि उनके चचेरे भाई उनके प्रति क्या भाव रखते हैं। वे तो सहज बालोचित स्वभाव से सबके सग ढीडा करते थे, परन्तु दुर्योधन आदि भीम के अदम्य साहस और अतुल बल के प्रति द्वेष जय ईर्ष्या और शत्रुता की बुद्धि रखने लगे थे—'दुष्टभावमदशयन्' (सभा पत्र 127 25)। इतना ही नहीं, भीम की किसी प्रकार हत्या करके, न य पाण्डवों को छल से बँद करके, 'निवृत्त्या सनिवृत्तताम्', दुर्योधन पृथ्वी पर निष्कण्ठक राज्य करने की महत्त्वाकांक्षा रखता था—'प्रनाशिये यमुधराम्' (सभा पत्र, 127 29 और 30)।

इस मत्सर पूण महत्त्वाकांक्षा ने ही दुर्योधन को इस महाका य का रत नायक बनाया है। भीम की विप देकर मार डालने का पड्यत्र अमानुषीय और अयायपूण बुद्धि का निमल मानवीयता और सहज जीवन जीने की निसग पूण अस्तित्व बुद्धि पर अवैध आक्रमण था। भीम आदि को तनित्र मात्र भुनकार ही नहीं थी कि खेल के वहाँ दुर्योधन का सलत्व भीम की विप द्वारा हत्या करने पर सुला हुआ है। विप देने के पश्चात् जब भीम की देह में जहर सवत्र फैल गया और वह मरणासन्न सा गहन निद्रा की अचेतन अवस्था में लुडक गया तो स्वयं दुर्योधन द्वारा भीम की पुरजोर बाध कर गङ्गा के भीषण प्रवाह में मरणाथ फेंक दिया जाना सत्ता निमित्त जीवन मूल्य का स्वतत्र जीवनयापन जय जीवन मूल्य पर जघन्य प्रहार था। सत्ता जब स्वाथपरक हाथों में बेद्वित हो जाती है और जब वे हाथ यह मिथ्या अनुभव करने लगते हैं कि सत्ता चली जायगी, तो वे अपनी पूरी शक्ति और सामथ्य के साथ उन पर आनमण करते हैं जिनसे उनकी सत्ता विनष्टि का भय उत्पन्न होता है—भय चाह मन गढत और झूठा ही क्या न हो! दुर्योधन के पास सत्ता थी, राज्याधिनार था और भीम के परात्रग से उसके मन में मिथ्या भीति का सचरण हुआ कि पाण्डव उसकी राज्य सत्ता का अपहरण कर लेंगे। पूरे महाभारत में एक भी स्थल ऐसा नहीं है जिसमें दुर्योधन का यह भीति भाव प्रमाणित हो सकता हो। परन्तु वात्पनित्र भय जब दुर्योधन के अत वरण में पर कर गया तब भीम की विप द्वारा मारने का यह प्रसन्न अमानवीय पड्यत्र सत्ता का स्वतत्रता पर प्रथम भीषण प्रहार था। इसी पड्यत्र न जीवन मूल्य के सधप को जम दिया। दुर्योधन इस सधप का जनक था।

एक सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूण और मननीय बात तो यह है कि जब सयोगयग भीम उस बालकूट रिप में मरा नहीं और यह गङ्गानिवासी सपों की जल नगरी में जीवित लौट आया तो युधिष्ठिर ने भीम के मुख से दुर्योधन की बाली करतूत का मडाफोड सुन कर, उसे उग पड्यत्र के प्रति अपना मुट

साथ विहार करते समय मारे गये। मरते मरते ऋषिसूनु ने राजा पाण्डु का श्राप द दिया कि उसकी उसी समय मृत्यु हो जायेगी जब वह अपनी पत्नी सग समागम करेगा। पाण्डु के उस समय तक कोई सन्तान नहीं थी, अतः वह इन श्राप से अत्यन्त ही व्यथित हो गया। अब कोई उपाय न देखकर कुन्ती ने पाण्डु को दुर्गासा प्रदत्त पुत्रदायी मन्त्र से अवगत कराया। पाण्डु की स्वीकृति से कुन्ती के क्रमशः तीन पुत्र हुए—युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन— धर्मराज, वायु और देवराज इंद्र से। पाण्डु की दूसरी पत्नी माद्री थी, पाण्डु के अनुरोध पर कुन्ती ने पुत्रदायी मन्त्र माद्री का दिया और अश्विनीकुमारा से उसे पुत्रद्वय नकुल और सहदेव—की प्राप्ति हुई। तत्पश्चात् समय की मर्यादावा के विच्छिन्न होने पर माद्री मग विहार के समय पाण्डु की जीवन् लीला समाप्त हो गई। विहार विलाप बन गया। श्राप फनित हुआ पाण्डु के निघन में। उसका स्थान उसके पुत्र पाँच पाण्डवों ने लिया। इस समय तक धृतराष्ट्र के कोई सन्तान नहीं हुई थी। दुर्योधन आदि सभी पुत्रों का जन्म बाद में हुआ था।

पाण्डवों का जन्म उस समय हुआ था जब पाण्डु, कुन्ती और माद्री के साथ, वन में मृगया विहार कर रहे थे। पाण्डु की अनुपस्थिति में हस्तिनापुर की शासन डोर धृतराष्ट्र सम्हाल रहे थे विदुर की सहायता से, जिन्हें राजनीति विचारद समझ कर, भीष्म ने मन्त्री बनाया था। पाण्डु की मृत्यु के पश्चात् माद्री तो पति के शव के साथ चिता पर सती हो गई परन्तु कुन्ती पाँचों पुत्रों सहित, वन ही में उनकी सम्पत्क प्रारम्भिक शिक्षा सम्पूण हो जाने पर, हस्तिनापुर लौट आईं। नगरवासियों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। परन्तु दुर्योधन को यह अच्छा नहीं लगा क्योंकि पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर सबसे बड़े थे और वयस्क होने पर उन्हें ही राज्यारोहण का अधिकार मिलने वाला था। स्थिति और अधिक असह्य हो गई जाता तब से दुर्योधन के लिये, जय पाण्डवों की सात्त्विक शालीनता, ऋषिकुमार सेवित विद्वता और अद्भुत पराक्रमशीलता उनकी अप्रतिम लोकप्रियता की भूमिका में जय कण्ठ द्वारा अमिब्यक्ति प्राप्त करने लग।

स्वमान से ही महत्वादाक्षी, मात्स्यपूण और मदोन्मत्त होने से तथा धृतराष्ट्र का सबसे बड़ा पुत्र होने के कारण दुर्योधन अपने को ही राज्य का सही अधिकारी मानता था। अतः दुर्योधन के हितैषियों ने यह प्रचार करना शुरू किया कि भले ही युधिष्ठिर का जन्म पहले हुआ हो और दुर्योधन का बाद में, पर दुर्योधन अपनी माता के गर्भ में पहले ही आ गया था। यही नहीं, राज्य के वास्तविक और वैध अधिकारी तो धृतराष्ट्र ही हैं, परन्तु उनकी जन्मघटा के कारण ही राज्यारोहण पाण्डु चाचा का हुआ था। अतः दुर्योधन धृतराष्ट्र का वरिष्ठ पुत्र होने के कारण, पाण्डु महाराज की मृत्यु के उपरांत, दुर्योधन

ही राज सिंहासन और राज मुकुट का सही स्वामी है। वस्तुतः दुर्योधन अपन राज्याधिकार के दौबल्य से भली भाँति परिचित था, इसलिए उसे कृत्रिम और अमानुषीय साधनों का पाण्डवों के विरोध में प्रयोग करना पड़ा था। बाल्यावस्था से ही उसके मानस में राज्य सत्ता के पूण स्वामित्व का आशय गहरी जड़ें ग्रहण कर चुका था क्योंकि पाण्डव तो अपनी कुमारायस्था में अपने माता पिता के साथ वन में ही रहे थे, उनका तो जन्म भी वही हुआ था और वह भी महाराजा पाण्डु से नहीं। परन्तु दुर्योधन का बाल्यकाल तो राज्य वैभव और सत्ता के प्राचुर्य में ही पला था। जब कुन्ती पाँचों पाण्डवों सहित ऋषिया द्वारा हस्तिनापुर में पहुँचा दी गई, और भीष्म आदि न उनका नव्य स्वागत किया, तब ही से दुर्योधन के चित्त में पाण्डव विरोधी एतत्त्व का बीजारोपण हो गया। ज्यो ज्यो बाल पाण्डवों की लोकप्रियता बढ़ने लगी त्यों-त्यों दुर्योधन की ईर्ष्या और द्वेष बुद्धि भी उतने प्रति प्रगाढ़ होने लगी। भीष्म के बालोचित पराक्रम और शौर्य तो उसके आँखों की किरकिरी बन गया। 'विन्दोवरण धार हृदिगल्ममिवापितम्' दुर्योधन स्वयं वीर और बली था, परन्तु भीष्म की शक्ति के सामने भाइया समेत दुर्योधन का पौष्ट्य पीका लगता था। इस प्रकार के मनोवैचलित तत्तुआ से निर्मित दुर्योधन के बाल मानस में भीष्म विरोधी द्वेष इतना बढ़ गया कि वह उसे मार डालने का पडयत्र करने पर उत्सुक हो गया। उगने सोचा कि भीष्म का मार देने के पश्चात् वह उसके अर्थ सभी भाइया को वंद्यकरके निष्पण्टा राज्य करेगा। अतः छल कपट से भीष्म की हत्या करने के घृणित उद्देश्य से दुर्योधन ने गंगा नदी के किनारे एक अत्यन्त रमणीय श्रीढा गृह बनवाया और पाण्डवों को वहीं स्नान श्रीढा एवं श्रुतिमोज हेतु निमंत्रित किया। हिनमिल कर भलने का रातक स्वाँग हुआ, सब खूब राते। बाद में तो तभी अत्यन्त प्रेम भाव के प्रदर्शन के साथ लाया सितलाया गया। दुर्योधन ने उन सब भीष्म का मिष्टान्न में 'बालकूट' नामक घोर विष मिला दिया था जिससे भीष्म के दह में उगका प्रभाव प्राप्त हो गया और वह राजोच्छात में उस श्रीढा गृह में सो गया। सब सुगते-सूदते वहाँ से पर भी आर सीट पर, परन्तु दुर्योधन ने तारा पताजा से भीष्म को मजबूती में बाँध कर एक ठेकेस्थान में गंगा प्रवाह की तीव्रता में फेंक दिया और किमी को उगरी शक्ति भाँटार तात में गयी। परन्तु मजिद्व्यता में भीष्म की मृत्यु नहीं, जीवित निगा था। कामरुट विष में गयी भीष्म की दह पर गंगा धारा में बहता था तब तब विषधर गीत। आरगण किया। 'विषस्य विषमोघम्' वाय में भीष्म का अघेता गरीर सन्निवध गंगा में मिट्टर उठा। उगा उग मीथा का एव एव करके धरने गरीर में दूर दिया, उनका मत्त दिया उरु मार मगाया। मगनाग क कपटार क अगुमार तागार मगुदि त थापन ताव की मगना स ताग का

भर पट अष्टकुण्ठी अमृत पिलाया आर वहाँ के दिव्य सलिल में स्नान कराया जिससे भीम को सहस्र हाथियों का बल सहज ही मिल गया। निरस्त देह, जब मनुष्य धर्म का सही अवलम्बन लेता है तो प्रकृति की शक्तियाँ भी उसकी सहायता करने लगती हैं।

नागा ने भीम का गणतट पर पहुँचा दिया और हर्षाल्लित भीम घर का लौटा। इस बीच पाण्डु भ्राताओं के राजभवन में पहुँचने पर भीम की अनुपस्थिति ने सब को दुर्योधन की पट्टयन्त्रारिक्ता से शवाकुल और विपदा ग्रस्त कर दिया। कुन्ती के दुःख और धनीभूत वेदना का तो कोई आरापार ही नहीं रहा। परन्तु ज्याही भीम को घर सजीव लौटते देखा तो गुसाश्रुओं से पाण्डवों में अपना सौभाग्य मनाया। बालकूट विष और नागलोक की रहस्योद्घाटी घटना से पाण्डव भाइयों और उनकी माता को दुर्योधन के मनोमालिन्य का पता चल गया। पर युधिष्ठिर ने सब को आदेश दिया कि दुर्योधन की छान-पूण साजिश को गायनीय ही रखा जाये। उधर अपने प्रयास में असफल दुर्योधन ने पाण्डवों की हत्या हेतु एक अथ पट्टयन्त्र फिर रचा। उसने चारणावत नामक स्थान में एक अथ लाशाश्रुह पुराचन नामक महाशिल्पी से इस उद्देश्य से बनवाया कि उसमें कुन्ती समेत पाँचों पाण्डव निवास करते समय एक रात सदा के लिए अग्निमुख में भस्मीभूत हो जाये। दुर्योधन ने अपने पिता सम्राट धृतराष्ट्र को इस बात पर राजी कर लिया कि ये पाण्डवों की माता सहित देशाटन के लिए अनुरोध करें ताकि उन्हें कुछ उम्मुक्त वातावरण की आनन्दानुभूति हो। विदुर को इस पट्टयन्त्र की दुग्ध लग गई और उसने गुह्य ढंग से युधिष्ठिर को सावधान ही नहीं कर दिया, परन्तु लाशाश्रुह में आग लग जाने की स्थिति में वहाँ से बच निकलने हेतु वहाँ एक सुरग का निर्माण करवा दिया जिसका पता तो पुराचन का, न दुर्योधन की, और न ही किसी अथ को चल सके। एक रात, एक मिसारिन अपने पाँच पुत्रों सहित उस लाशाश्रुह में निशा निवास हेतु चुपके चुपके प्रवेश कर गई, दुर्दैव से उसी रात्रि को दुर्योधन के कर्मचारियों ने लाशाश्रुह में आग लगा दी। उस भीषण अग्नि में मिसारिन समेत उसने पाँचों बेटे जल कर भस्म हो गये। परन्तु भीम के पराश्रम से उस गुप्त सुरग द्वारा पाँचों पाण्डव और कुन्ती भाग निकले। उन दग्ध अस्थि पिंजरो को देखा कर दुर्योधन, वण, दुःशासन आदि सब आश्वस्त हो गये कि उनके प्रतिद्वन्द्वी पाण्डवों का सवथा नाश हो गया है और अब दुर्योधन विधिष्ठिर राज्य कर सकेगा। पाण्डवों के जल कर मर जान की बात जन शत्रु का कारण बन गई, अतः धृतराष्ट्र ने भी राज्य सभा में अपनी भाभी और भतीजों के विघ्न पर शोक प्रकट किया। यस्तुतः धृतराष्ट्र अपने मन में छद्म सन्तोष

और शीतलता वा अनुभव कर रहा था क्योंकि अब उसके पुत्र निष्कण्टक दीर्घ कात तन राज्य करत रहेंगे। भीष्म और विदुर अत्यन्त दुःखी हुए और राज्योचित त्रिधि से मृत पाण्डवों का क्रिया काण्ड क्रिया। पर तु जब उह मुप्त समाचार मिले कि पाण्डव, माता कृती सहित, लाशाश्रुह की भीषणाग्नि से बच निकले हैं और अभी जीवित हैं, तो उह अपार क्षाति की अनुभूति हुई और उनका मन निश्चित गीर हत्या हो गया।

अग्नि काण्ड से बच त्रिजलने के पश्चात् गंगा पार कर के वे वन प्रदश में दक्षिण की ओर बढ़े। माग में दादा महर्षि व्यास मिले और उनक परामश अनुसार पाण्डव ब्राह्मण वेष में विचरण करन लग। हिडिम्ब नामक राक्षस का माग में भीम ने बध किया, उसकी वहिन हिडिम्बा से विवाह किया जिससे घटोत्कच नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। फिर एकचक्रा ग्राम में जिस ब्राह्मण के घर अतिथि होकर रुके उसके प्राणा की रक्षा हेतु भीम ने बकामुर का बध किया। इस घटना से समूचा गाँव उस असुर के भय और आतङ्क से मुक्त हो गया और पाण्डवों के प्रति समस्त ग्रामवासी प्रेम और श्रुण भाव रखने लग। मिश्रावृत्ति से निर्वाह करते करते वहाँ कई महीने बीत गये। एक बार उह यह समाचार मिला कि पाण्डवात् नरेश की पुत्री द्रौपदी का स्वयम्बर होने वाला है और गाँव के अनेक ब्राह्मण दान दक्षिणा प्राप्तिके उद्देश्य से स्वयम्बरोत्सव देखने पाण्डवात् जा रहे हैं। वे भी ब्राह्मण-वेश में वहाँ पहुँचे। इस स्वयम्बर में वारव राज कुमार दुर्योधन, दुःशासन आदि भी वण सहित आये हुए थे।

मातापुत्र द्रौपदी अनिच्छ रूप लाक्षण्य की अक्षय राशि थी। उसके अद्भुत सौन्दर्य और योग्यता से उत्पन्न होने की कथाओं से मुग्ध और आश्चर्यावित अनेक युवराज एवं अन्य जन स्वयम्बर में आये थे। द्रौपदी यश से उत्पन्न हुई यह बात पुरानी है। एक बार द्रुपद राजा की राज्य समा में द्रोण नामक ब्राह्मण उपस्थित हुए, जिन्होंने परशुराम से दिव्य अस्त्र शस्त्र और धनुर्विद्या प्राप्त की थी और जिन्होंने बाल्यकाल में महाराज द्रुपद के साथ गुरुकुल में एक साथ विद्या यजन किया था। उन दिनों दोनों में प्रगाढ मैत्री और घनिष्ठता थी और द्रुपद ने उह कहा था कि राज्यारोहण के बाद वह द्रोण का अन्तरंग साथी सम्भ्राट रहेगा। परन्तु द्रोणाचार्य की समा में उपस्थिति पर द्रुपद ने कोई विशेष सत्कार नहा किया, इतना ही नहीं बाल्यकालीन बचनों के स्मरण कराने पर द्रुपद ने कहा कि मैत्री बराबर बाला में होती है, असमानता बभी भी मैत्री का आधार नहीं हो सकता—'जा श्रात्रिय नहा, वह श्रात्रिय वा, जा रथी नही वह रथी का, और जो रागा नही वह राजा का रागा नही हो सक्ता अब पहले की बात याद करना व्यय है।'

की सी लेने के लिये कहा—'तूष्णी भव' (सभाष्य 128 34) । यदि स्वतंत्र जीवन चपत्तीत करना है, तो नीलकण्ठ बनना पड़ेगा । युधिष्ठिर की प्रतिनिध्या शांतिप्रियता का चोतन करती है । हिंसा और दुष्टता, दोषल्य की खान से निम्न करने वाली घासनाएँ हैं, जो सत्ता का आधार पाकर घातक और घिनोना प्रहार करके तृप्ति की अनुभूति करती है । यह है दुर्योधन की दृष्टि जिससे उसके बाल्यकाल से ही पड़्यत्रवारी दुष्कृत्यहार और परपीडक जीवन मूल्यों की अमानुषीय एवं अत्यायप्रद सृष्टि की शुरुआत हो गई । वेदव्यास ने इन दृष्टियों को घनमय और मनुमय की सजाआ से ज्ञापित किया है ।

मीमंसा का जीवित स्रोत आना दुर्योधन के लिए दुःसह हो गया । उसे क्षीघ्र मार डालने के लिए उससे भी ज्यादा खतरनाक और अत्यंत अमानवीय पड़्यत्र की मरचना दुर्योधन ने की । घृतराष्ट्र को भी अपने साथ में रखा । वण आदि अथ साधिया ने दुर्योधन का समथन किया । लाक्षागृह दहन की पटय प्रचारिणा में दुर्योधन की रसाथाघता, सत्तापरक निरकुशता एवं भौतिकवादी वैयक्तिक सुखलोलुपता का दर्शन होता है । लाक्षागृह की प्रचण्डाग्नि से वच निकलने के बाद कुंती समेत पाण्डवों का, स्वतंत्र जीवन जीने की सहज अभिलाषा से, किसी से बिना कुछ कहे वन प्रवेश की ओर चले जाना उनकी शांतिप्रिय अस्तित्ववादी जीवन दृष्टि का ही स्पष्ट उदाहरण है । एक तरफ सत्तावादी जीवन दृष्टि और उग्रता जय अपहरणवादी और आक्रमणकारी जीवन मूल्या की सृष्टि है, दूसरी तरफ समत्व पोषिणी, जीवन स्वातंत्र्य रक्षिणी जीवन दृष्टि और वृत्तव्य परामर्शताजय सवहितकारी शांतिप्रिय मानववादी जीवन मूल्या की सृष्टि है । हिंसा, स्वार्थाघता, धुद्रता और अहंकार दुर्योधन बुद्धि के अंतरंग भाव हैं, तथा छल, धोखा, वपट आदि के माध्यम से इनकी अभिव्यक्ति नित्य नय परिवेश में होती है । स्वतंत्रता, आत्म गौरव, स मम्मान अस्तित्व और हृदय की विशालता युधिष्ठिर बुद्धि के अमित्र और अविभाज्य लक्षण हैं जिनकी अभिव्यक्ति रक्षात्मक शांतिप्रियता में होती है । वस्तुतः आत्मदोषत्य और हिंसाभिध्यक्ति सहधर्मी और सजातीय भाव हैं जो परायतन्त्रका पापण और स्वतंत्रता का हनन करने वाले होते हैं । आत्म बली, वीर और विश्वासी मानव स्वयं स्वतंत्रताप्रिय होते हैं और दूसरों में स्वतंत्र आर श्रेष्ठ जीवन के प्रेरक एवं प्रोत्साहक व्यक्ति होते हैं । दुर्योधन रक्षित करवा और युधिष्ठिर पोषित पाण्डवों के मध्य चल रहे प्रथम घरण के जीवन मूल्यों के सघण का यही मूल स्वरूप था ।

वनासुर की भीम द्वारा लोवहितकारी हत्या युधिष्ठिर के मानववादी जीवनराज्य के राक्षस की ओर मयेत करने वाली घटना है । जिन प्राणियों के

घर में अतिथि के रूप में ब्राह्मण वेशधारी पाण्डव रहते थे, उसकी बारी बन्वासुर के पास जाने की आई। उस राक्षस के लिए बीस सारी अगहनी चावल का भात, दो भैंसे और एक मनुष्य, जो वह सब समान लेकर जाता है, भोजन के रूप में ले जाना था। घर में कर्ण प्रदान मंच गया क्योंकि न तो उसके पास इतना धन था कि वह इतनी सामग्री एकत्रित कर सके, और न ही उस ब्राह्मण के चले जाने के बाद ऐसा कोई युवा था जो परिवार को भागी विनाश से बचा सके। माता कृती के आदेशानुसार भीम बन्वासुर के पास सारी भोजन सामग्री लेकर पहुँचता है जिसका एकमात्र उद्देश्य है ब्राह्मण का हित सम्पादन और सम्पूर्ण नगर का सबटमोचन—'ब्राह्मणार्थे महत्कृत्य मोक्षाय नगरस्य च' (आदिपर्व 1614)। यह है पाण्डवों की सबजन हितकारी जीवन दृष्टि और उनके हृदय की विशालता और अतः करण की निःस्वार्थता।

अतः जीवन मूल्यों के सघष के प्रथम चरण में दो जीवन दृष्टियों की श्रृंखला का दिग्दर्शन वीज रूप में हमारे सामने आता है। एक ओर क्षुद्र मन की सकीर्णता एवं सत्ताधिकार की स्वायत्तोलुपता जैसा जीवन मूल्यों का मत्सर भरा मन्मथ सागर है, और दूसरी ओर भद्र मन की विशालता एवं 'सबजन हिताय सुखाय च' भाव से उज्ज्वलित जीवन मूल्यों का मानवीय गुणों से भरा धममय क्षीर सागर है। यद्यपि इस चरण में कौरवों की मन्मथता और पाण्डवों की धममय मानवीयता के बीच सीधे सघष का प्रत्यक्षीकरण हमें नहीं होना, तथापि दुर्योधन की भीम पर घातक आश्रमकता का अत्यन्त घिनौना और अमानुषीय रूप दिखे बिना नहीं रहता। दुर्योधन के मन में हिंसा है, सत्ता-लोलुपता है, पाण्डवों के प्रति विद्वेष है। भीम आदि के मन में न हिंसा है न सत्ता का लोभ, न किसी के प्रति द्वेष का भाव। दोनों गदाधर हैं परन्तु एक का गदाधारण सत्ता और शक्ति के दुरुपयोग का यत्न है जबकि दूसरे का केवल आत्मरक्षा और समाज के भगलमय जीवन का साधन। दोनों में गहरा अंतर है, यही अंतर जीवनमूल्यों के दो प्रमुख रूपों को दर्शाता है और आगे होने वाले नराधमता और नरोत्तमता के भीषण सघष को आधारशिलाएँ रख देता है।

सघष का द्वितीय चरण

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि श्रौपदी-स्वयम्बर महाभारत की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। इससे जिन कुछेक तथ्यों का उद्घाटन हुआ उनसे महाभारत के घटना चक्र को एक नयी गति मिली और जीवन मूल्यों के सघष को एक नया मोड़। प्रथम द्वार घृतराष्ट्र, कौरव राजकुमारों और उन सभी जनो के समक्ष, जो इस बात से पूणतया आश्वस्त हो चुके थे कि वारणाप्रत के लाशाग्रह दाहम कृती समेत पाँचों पाण्डव जलकर भस्म हो चुके थे, यह सत्य उनके हृदय को

विदीन कर गया कि द्रौपदी स्वयम्बर में मत्स्य भेद करने वाला अथ कोई नहीं स्वयं अर्जुन ही ब्राह्मण वेग में था। भीष्म, द्रोण आदि ने तो पाण्डवों का श्राद्ध तक कर दिया था। पाण्डवों के जीवित बच रहने के सत्य का उद्घाटन कौरवों के चरित्र और उनके जीवन मूल्यों को उजागर करने वाली कुञ्जी सिद्ध हो गया।

इस नूतन सत्य से कौरव दल में खलबली मच गई और वे पाण्डव विनाश एवं मरण हेतु तरह तरह के मतव्य करने लगे। इस प्रतिश्रिया में दुर्योधन आदि के विचारों का दपणवत् दशन होता है। शकुनि ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि कुन्ती पुत्रों का शीघ्रातिशीघ्र नाश कर देना चाहिए— 'उत्सादनीया कीर्तेया' (आदिपर्व, 1997), इसके पूर्व कि अथ सभी राजा अर्जुन के नेतृत्व में समवेत हों, पाण्डवों के वध की शीघ्र गुप्त व्यवस्था हमें कर लेनी चाहिए—

यादत्त्वरता सर्वे प्राप्नुवति नराधिपा ।

तापदेव व्यवस्याम पाण्डवाना वध प्रति ॥

आदिपर्व 1997

शकुनि की बात सुन कर सोमदत्ति ने तो इससे भी ज्यादा भयंकर बात कह दी— धिक्कार है हमारे जीवन और पुरगाथ को कि पाण्डव अभी तक जिंदा हैं— 'धिगस्तु पीरय तात धियते यत्र पाण्डवा' (आदिपर्व 19912)। धृतराष्ट्र ने भी इन्हीं का हाथों समर्थन करते हुए कहा, 'ओ मेरे लाले! मैं भी यही करता चाहता हूँ जिसकी तुम्हें अभिलाषा है, परन्तु मैं भेरी बात को विदुर के समक्ष नहीं रग सक्ता।

अहमप्यवमैवैतच्चिकीर्षामि यथा युवाम् ।

त्रियस्तु नाहमिच्छामि त्वाकार विदुर प्रति ॥

दुर्योधन तो स्पष्ट कहता है कि कुन्ती के पुत्रों और माद्री के पुत्रों में फूट डाल कर पाण्डवों का दुबल और हीनात्मवान् कर देना चाहिए— 'कुन्तीपुत्रान् भेदयामो माद्रीपुत्रो च पाण्डवो' (आदिपर्व, 2004), तत्परत्वात् 'नीम की गुप्त रूप से हत्या शीघ्र कर देनी चाहिए क्योंकि यही उन सबमें सर्वाधिक बनी है' (आदिपर्व 20010)

भीमसंतप्य वा राजप्रपयाय कुशन्तरे ।

मृत्युविधीयते छत्रं स हि तेषा वनाधिप ॥

तात्पर्य यह कि धृतराष्ट्र के मन में पाण्डवों के प्रति मलिन भावना है, वह उन्हें हरिनापुर बुलाना नहीं चाहता, परन्तु बाल की छोटा अत्यन्त दुविधेय है। यद्यपि जिने छत्र देना वा राजा बनाना गया, दुर्योधन के सामने आना हूँ

खोल कर रम दिया जब उसने प्रेमानुरोधपूर्वक कहा—

नहि साम्ना न दानेन न भेदेन च पाण्डवा ।

शक्या साधयितुस्मात् विश्रमेणैव ताञ्जहि ॥

आदिपव 201 20

'विश्रमेणैव' पराक्रम द्वारा ही 'ताञ्जहि' याने उन्हें मार दो ।

सक्षेप में, दुर्योधन के हृदय में एक भयकर ज्वालामुखी पर्वत गडगडाहट धरने लगा । येनकेन प्रकारेण पाण्डवों का नाश अविलम्ब होना चाहिए । चाहे पारस्परिक फूट के कारण वे विनाश पथ गामी हो जाये, चाहे सर्वाधिक बली भीम की हत्या करके शेष पाण्डवों को जेल में डाल कर उनका वैभव, बुद्धि तुल्य खजाने और उनकी अस्मिता को छिन भिन कर दिया जाये । दुर्योधन की बुद्धि में राजकीय सत्ता का एकाधिकार उपभोग, इस तरह छा गया कि पाण्डव जो उनके चचेरे भाई ही थे एकदम जानी दुश्मन लगने लगे, जिनका शीघ्र जीवन समाप्त किये बिना उसकी अधिनायकवादी सत्तालोलुपता और परिग्रह शीलता को सतुष्टि अलम्ब्य रहेगी ।

शीघ्र ही सभा जुड़ी और सभी जनो ने दुर्योधन समथक मतलब ही प्रस्तुत किया कि उनकी शक्ति बढ़ने के पहले ही पाण्डवों का सबनाश कर दिया जाय । मयुमय महाद्रुम पर छल, वपट, द्वेष रूपी शकुनी शास्त्रा बढी होकर बढ़ने लगी । परंतु भीष्म और द्रोण की जब स्व मत प्रकट करने की वारी आई तो उन्होंने यायोचित परामश ही प्रस्तुत किया, जिसने वण और दुर्योधन की रोपाग्नि में घृताहृति का काम किया । भीष्म ने कहा कि 'कौरव आर पाण्डव दोनों ही मेरी दृष्टि में एक समान है, इस राज्य पर उनका भी इतना ही अधिकार है जितना कि तुम्हारा । अतः संधि के द्वारा उन्हें राज्य का आधा भाग दे दिया जाय— सघाय वीरै दीयताम् अधभूमि '(आदिपव, 202 4) । द्राण ने भी ऐसे ही 'यायपरक वचन कहे

ममाप्येषा मतिस्तात या भीष्मस्य महात्मा ।

सविनाज्यस्तु कौ तेया घम एष मनातन ॥

आदिपव 203 2

अर्थात्, 'हे तात ! (धृतराष्ट्र को सम्बोधन) मेरा अभिमत भी वही है जो महात्मा भीष्म का है । कुंती पुत्री को उनके हिस्से का राज्य दे दिया जाय यही राजघम की सनातन परम्परा है ।'

भीष्म और द्रोण के इस परामश 'तेपामघं प्रदीयताम्' के प्रति वण की अत्यंत बटु और शोधजन्य प्रतिश्रिया हुई । उसने धृतराष्ट्र को जो कुछ कहा उगता मार यह है कि देग लिया आपने कि जिन भीष्म और द्रोण ने आपने

अपनी राजसभा में इतना सम्मान दिया है और हर महत्त्वपूर्ण प्रश्न में समस्या पर समाधान हेतु इनके परामर्श का आप इतना आदर सत्कार करते हैं, ये यदि आपके भले (हित) की सलाह न दे तो इससे बढ़कर आश्चर्य की और क्या बात हो सकती है ! कर्ण ने भीष्म और द्रोण को अवृत्तता के जघन्य अपराध का दोषी घोषित किया—

योजितावयमानाम्या सवकार्येष्वनन्तरौ ।

न मन्त्रपेता त्वच्छ्रेय किममद्भुततरतत ॥

आदिपर्व 203 13

परंतु घृतराष्ट्र अब क्या करे ? शांतनुनन्दन भीष्म जिसने राज्य की सुरक्षा की प्रतिष्ठा की है तथा जो त्याग शीघ्र और व्रत की दिव्य मूर्ति मान्य है, उसकी यथोचित कथनी की अवज्ञा करना क्या घृतराष्ट्र के लिए उचित है ? क्या द्रोणाचार्य के प्रज्ञापूण परामर्श की अवहेलना करने में घृतराष्ट्र अपने पुत्रा की दुष्टता, अय्यायज्य सत्तालोलुपता और शकुनि की पडयन्त्रकारिता को खुले आम समर्थन और प्रोत्साहन प्रदान नहीं करेगा जो कौरव कुल और राज्य के विध्वंस की प्राग्भूमिका बन जायेगी ? क्या पाण्डवों के जीवित बच निकलने और पाञ्चाल स्वयम्बर में द्रौपदी के विजेता अर्जुन के प्रति तीव्र गति से हस्तिनापुर में बढ़ती हुई लोकप्रियता घृतराष्ट्र के माये राज्यापहरण का बलक न मठ देगी यदि पाण्डवों को राज्य में समान अधिकार की सनातन धर्म परम्परा के अधिकार लाभ से सवथा वञ्चित कर दिया जायेगा ? ऐसे अनेक प्रश्न और शवाण घृतराष्ट्र के मन को उद्विग्न कर बैठी होगी और अततो गत्वा उसने ध्रातृतुल्य सूतपुत्र विदुर को बुला कर निणयात्मक स्वर में कहा—

यथैव मम पुत्राणामिदं राज्यं विधायते ।

तथैव पाण्डुपुत्राणामिदं राज्यं न सशय ॥

आदिपर्व 205 3

‘जैसे मेरे पुत्रों का यह राज्य कहा जाता है उसी प्रकार पाण्डु पुत्रों का भी यह राज्य है—इसमें लवणेश मात्र भी सशय नहीं है !’

क्षत्ररानयं गच्छतान् सह मात्रा सुसत्कृतान् ।

तथा च देवर्षिण्या वृष्ण्या सह भारत ॥

अर्थात्, ‘भरतवशी विदुर ! अब तुम्हीं पाञ्चाल जाओ और उनकी माता बुती तथा उस देवर्षिणी वधू वृष्णा के साथ इन पाण्डवों को सत्कार पूर्वक ले आओ ।’

—(आदिपर्व 205 4)

इस घटना से मनुष्य मनुष्य के भीतर लहराती हुई मनुष्यता और क्षरती हुई मानवीयता के ही दर्शन नहीं हात, किंतु दोनों में जा पारस्परिक

अतद्वद् जीवन का सुलगाता रहता है, उसकी भी स्पष्ट झलक दिखाई देती है। जीवन के ताल पर मूया का सघन ताण्डव करो लगता है। अतः कारण में घतराष्ट्र प्रसन्न नहीं था किन्तु लालाजय जामत के भय में विनम्र हाकर उसने भीष्म और द्रुपदाचार्य की मन्त्रणा का स्वीकारत हुए, पाण्डवों का हस्तिनापुर बुलाने का निश्चय, दुर्योधन के विपरीत, घोषित किया। और उनके आगे पर उन्ह आधा राज्य, कीरवा की वश मयादा के अनुमूल दे दिया। यह भारत का प्रथम विभाजन था।

महाराजा द्रुपद ने अनेक बहुमूल्य उपहार देकर पाण्डवों को रिदा किया। महाराजा घतराष्ट्र ने भी विधिवत् युधिष्ठिर का राज्याभिषेक किया और उन्हाने पाण्डवों को समझाया कि कौटुम्बिक शान्ति हनु वे हस्तिनापुर छोड़ कर खाण्डवप्रस्थ जाकर अपनी नयी राजधानी बनाये। प्राचीन कालीन पूवजों की राजधानी भी वही थी, परन्तु उस समय खाण्डवप्रस्थ पार वनस्थली बना हुआ था। शान्तिप्रिय पाण्डवों ने अथक परिश्रम से वहा पर इन्द्रप्रस्थ नाम की नयी राजधानी बनायी। वहा उन्हाने तेरह वर्ष तक लोककल्याणकारी प्रशासन किया और जन वश का भारी उपाजन किया।

इसी काल में इन्द्रप्रस्थ में एकदा देवर्षि नारद का आगमन हुआ। वे पाण्डवों की धार्मिकता से ता बहुत प्रसन्न हुए परन्तु उन्होंने, एक अटपटी बात को देखकर, निश्चय कहा 'द्रौपदी! तुम पाँचों भाइयों की पत्नी हो, पर साथ रहने का तुमने कोई नियम नहीं बनाया। भलाई नियम बढ़ता मही है।' नियम बना कि द्रौपदी के साथ प्रत्येक एक एक मास रहगा और जो यह नियम भंग करेगा उसे वारह वर्ष वनवास दण्ड भोगना पडेगा। स्वशासन और मर्यादित जीवन के मूल्या से जीवन में पारस्परिकता के प्रेम और सहयोग का माधुम्य सहज ही सचरित होने लगा। जन जीवन में भी अनुशासन और आपसी स्नेह की प्रगाढता का सूत्र दृढ़ होने लगा। एक दिन अर्जुन राजमवन के द्वार पर बैठे थे कि एक ब्राह्मण ने रुदन करते हुए वहाँ प्रवेश किया, वह शासन के प्रति कटु वचन भी बोत रहा था। अर्जुन के अनुरोध मूलक प्रश्न करने पर ब्राह्मण ने बताया कि चोर उसकी गाँवें चुरा कर ले गये हैं। क्षत्रिय श्रेष्ठ अर्जुन गाँवों को लौटा लाने हनु नृत्पिबद्ध हो गया, परन्तु उस समय वह निरस्त्र था और उसके अस्त्र गस्त्र उस मवन में थे जहा द्रौपदी एक मास के नियमानुसार युधिष्ठिर के सहवास में थी। यह घम सक्क का घडी थी यदि वह शस्त्र लेने उस मवन में जाता है तो उसे नियम मगानुसार वारह वर्षों (1) के वनवास का दण्ड स्वीकारना पडता है, यदि वह नहीं जाता है तो वह ब्राह्मण की अवना और दुःसंप्रद अवहेलना की दुःसहाय और क्षत्रिय कुतः कलक प्रदा स्थिति

का प्रमादवश आह्वान करता है। शांत मन और एकाग्रचित्त से विचार कर अर्जुन ने प्रथम विवल्प को श्रेयस्कर समझकर चुन लिया। सिर झुका कर, पृथ्वी पर दृष्टि जमाते हुए अर्जुन ने भयन म प्रवेश किया, अस्त्र उठाये, चोरो का तीव्र वेग से पीछा किया, और गोएँ छुड़ाकर ले आया। ब्राह्मण आनन्दित हो उठा, अतः करण की पावन गहराइया से आशीर्षचन कहता हुआ। स्व गृह लौट गया।

नियम भग के अपराधाय प्रायश्चित्त करते हेतु अर्जुन ने द्वादशवर्षीय वनवास गमन किया। यद्यपि युधिष्ठिर न बहुत समझाने का प्रयत्न किया कि अपराध तत्र होता है जब बड़े भ्राता के जीवन में किञ्च मात्र भी विघ्न पड़ा होता और वह स्वयं नियम भग की शिष्यायत करता। परन्तु नियम की मर्यादा का भग मात्र अपराध की मोनि है और निर्धारित दण्ड भोग ही उसका सन्धा प्रायश्चित्त है, ऐसे में तव्य पर अर्जुन की अडिगता से प्रभावित होकर माता कुन्ती सहित सभी ने वनवास-भ्रमनाथ अर्जुन का पथ निर्विघ्न कर दिया।

मूल्याङ्कन की दृष्टि से यह एक अत्यन्त छोटी, सरल परन्तु सारगर्भित घटना है। वहाँ तो दुर्योधन का भोगवादी, परपीडक, सत्तालोलुप अमानुषीय जीवन दशन और व्यवहार और कहीं पाण्डव पुङ्गव अर्जुन का त्यागवादी, परहितकारी, वीरोचित्त, मानव सेवा-परक जीवन दृष्टि और व्यवहार। राज्य गया नहीं है, पाण्डवों ने राज्य की भाग भी नहीं की है, अधिकार जताने का सकेत तक नहीं किया है उहोने, परन्तु भायी में पाण्डवों राज्य मागेंगे इस भय मात्र से दुर्योधन भीम की विष देकर मार डालने, लाक्षागृह दहन द्वारा पाण्डवों की जीवन लीला को सदा के लिए समाप्त कर डालने आदि के अनैतिक और भ्रातृ घाती पडयंत्र का रचयिता बन गया। द्रौपदी स्वयम्बरोपरात पाण्डवों के जीवित रह जाने की जानकारी से कौरव राजकुमारों में हुई प्रतिक्रिया उनकी क्रूर, अत्यायप्रद और अमानवीय जीवन दृष्टि व शैली को स्पष्ट चोतन करती है। हस्तिनापुर से दूर साण्ड्यप्रस्थ में घृतराष्ट्र न पाण्डवों को इसीलिए भेजा कि वह दुर्योधन के दुष्ट स्वभाव, पडयंत्रकारी प्रवृत्ति और स्वयं की उसके समझ विवशता से मली भाँति परिचित थे। एक ओर सत्ता और सम्पत्ति के अधिकार के लिए माई माई को यमलोक पहुँचाने हेतु उद्यत है, दूसरी ओर लोक सग्रह और सुरक्षाप्रद प्रशासन जन जा को सुलभ हो, विशेषकर विद्वद् समुदाय के प्रतीक ब्राह्मण को तनिक मात्र भी कष्ट न हो—एसी कल्याणकारी जीवन दृष्टि से अभिभूत पाण्डव एक ब्राह्मण की गायों को चोरो के चंगुल से मुक्त कराने हेतु स्वेच्छा से धारह वर्ष का वनवास निःसर्कोच ग्रहण करे। अतीव विचित्र बात है यह, पर है यह मानवीय जीवों का एक प्रेरक सत्य, एक व्यवहृत आदर्श पृष्ठ।

मयादा पालनाय आत्म चयनित वन भवन का प्रायश्चित्त कम यद्यपि अत्यंत दुष्कर तथा मक्टापन्न रहा परंतु तथापुत निष्ठावत् अजुन व शीघ्र और शालीनता के प्रभाव से उसकी वन यात्रा फलप्रदा ही सिद्ध हुई। हरिद्वार में नागराज वरुच्य से मैत्री हुई और उसकी कन्या उलूपी उसे वध के रूप प्राप्त हुई, आगे तीर्थाटन करते करते पूव दिशा के मणिपुर की राजकन्या चित्रागदा से विवाह और वध्रुवाहन नामक पुत्र की प्राप्ति हुई जिसकी वीर गाथाएँ महाभारत को नया मोड़ और रामाञ्चकारी मञ्च प्रदान करने वाली सिद्ध हुई, मणिपुर से पचतीथ होत हुए अर्जुन ने जब प्रभात क्षेत्र में प्रवेश किया तो वहाँ श्रीकृष्ण से अर्जुन की दूसरी मुलाकात हुई आर वहाँ उसने कृष्ण के सहयोग से 'सुभद्रा'— हरण करके यादवों की शक्ति से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये। सुभद्रा के साथ कुछ काल तक पुष्कर तीथ में अर्जुन ने निवास किया और द्वादा वर्षों की वनवास अवधि की परिसमाप्ति पर वह सुभद्रा आर कृष्ण सहित इन्द्रप्रस्थ लौट आये।

सभी पाण्डवों का पुनर्मिलन एक नयी शक्ति के संचार का प्रतीक बन गया। श्रीकृष्ण की इन्द्रप्रस्थ में विद्यमानता ने जीवन मूल्यों के सषप को ही नहीं अपितु महाभारत के सम्पूर्ण घटनाचक्र को एक नातिकारा माड प्रदान किया, एक नूतन नतृत्व और एक नयी दिशा प्रदान की।

इन्द्रप्रस्थ लौट आने के बाद खाण्डव-दाह की अपत्याशित आर आश्चर्य जनक घटना घटी जिसमें अग्निदेव अर्जुन के ममक्ष याचक बनकर आये और सन्तुष्ट हो जान पर उहाने अर्जुन को 'गाण्डीव' नाम का विशाल और प्रसिद्ध धनुष 'अभय तूणीर' आर वरुण से प्राप्त 'नदिघोष' नामक दिव्य रथ प्रदान किया इनके बदले में अर्जुन ने अग्निदेव को खाण्डव वन को दग्ध करने की स्वीकृति दी जिससे अग्निदेव अजीण रोग से मुक्त हो सक। खाण्डव वन इन्द्र देव से रक्षित क्षत्र था अत वन में अग्नि प्रज्वलित हात ही उसका रक्षा हलु इन्द्रदेवाज्ञानुसार मधवपण हाने लगा। कृष्ण से सकेत पाकर अर्जुन ने अपने पीछे शरानुग धान से नम का इस तरह आच्छादित कर दिया कि तपा के गिरन के पूव हा अग्नि के उदर में सब कुछ स्वाहा हो गया। तक्षक वध न सका। इन्द्र अर्जुन के गोघप्रदशन से प्रसन्न हा गये आर 'रिव्यास्त्र की प्राप्ति के लिए इन्द्र ने अर्जुन का शकराराधन के लिए कहा।

खाण्डव दहन में बचने वाल छ प्राणियों में एक 'मय दानव या जिसने प्राण रक्षा हेतु अर्जुन के प्रति कृतज्ञता प्रकट करके, सेवाय निवदन किया। कृष्ण जानते थे कि मय एक महान शिल्पी था। अत उहाने कहा—'महाराज युधिष्ठिर के लिए इन्द्रप्रस्थ में एक एस सभा भवन का निर्माण करो, जो अनुपम

आर अद्वितीय हो ।' सभा भवन बना और उसकी हर किसी का आश्चर्यचकित कर देने वाली चमत्कारिक अनुपमता ही दुर्योधन की प्राधानि में आहुति का काम आगे चल कर किया । विश्व इतिहास में किसी अद्भुत कलाकृति ने यदि मुद्द धो वही जन्म दिया है तो वह मयदानव वृत पाण्डवा का यही सभा भवन था । लगता है पाण्डव वन का अवयव थाप ही दुर्योधन की प्राधानि का मूल रूप बन गया ।

यही से जीवनमूल्यों का सघष अस्तित्व की परिधि से अस्मिता की परिधि में प्रविष्ट हो गया, श्रीकृष्ण उस सघष के सूत्रधार बन गये, और भीम तथा अर्जुन वन गये उस सघष के मानवीय स्वतंत्रता और 'याय पक्ष' के प्रधान नायक ।

अत्र पाण्डव अवेल् नहीं थे । उनकी शक्ति विकासपथगामिनी का धुकी थी । पाञ्चाली और यादवों की बड़ी राज्यशक्तियाँ इनके साथ थी । वसुधा मातेजोभग और उसके जीवन के साथ उसकी आतङ्कवादी शक्ति का सम्पूर्ण विध्वंस करने वाले मथुरावासियों के हृदय सम्राट् टाण भी पाण्डवों के सहायक बन चुके थे । इसका मूल कारण यह था कि कृष्ण स्वाधीन और स्वानतम्बी नागरिकों के गणराज्य की स्थापना द्वारा मानवता, 'याय और स्वतंत्रता' प्रधान जन जीवन के आदर्श और मूल्यों का राष्ट्रीय जीवा का यथाय स्वरूप बनाने हेतु वृत सकल्प थे और धर्मराज युधिष्ठिर के नतृत्व में पाण्डव भी समानता और स्वतंत्रता के पोषण और प्रोत्साहन में सलग्न थे । अतः कृष्ण और पाण्डवों की घनिष्ठता में आत्मीयता की सुगंध सहज ही व्यक्त हुई । दुर्योधन और शकुनि सहित कर्ण की मैत्री में मात्स्य की मलिनता और द्वेष की सुगंध थी । अतः अत्र जीवन मूल्यों के इन दो परस्पर विरोधी पद्धतियों में सघष न एक अभिनव रूप व्यक्त किया और उसका आधार बना अस्मिता । अब तक तो पाण्डव अस्तित्व हेतु ही सघषशील थे, अभी प्रकट रूप में, अभी छद्म रूप में । अब सघष के रूप में, शैली में, आधार में एक नवीनता का समावेश हुआ, उसमें एक नयी सामर्थ्य का प्रत्यक्ष दर्शन होने लगा, उसी वसोष्ठियाँ और अधिक उदात्त हो गई ।

मयदानव निर्मित उत्कृष्ट कलाकृति सभा भवन ही सघष की इस नूतनता के उद्घाटन का भव्य प्राङ्गण बना । देवर्षि नारद ने इंद्रप्रस्थ के सिंहासन पर अभिषिक्त राजा युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने की विशिष्ट मन्त्रणा दी । इसका मूल प्रयोजन सत्य और धर्म पर आधारित राज्य और जीवन आदर्शों की संस्थापना करना था । इस यज्ञ के सम्पादन हेतु युधिष्ठिर ने द्वारिका से महामहिम कृष्ण को निमन्त्रित किया । कृष्ण आये, राजसूय यज्ञ के विचार की

साराहारा करते हुए कहा 'धर्मराज्य और याप-तत्र की मानव-स्वातन्त्र्य के प्रोत्साहनाथ और मानव विद्या के सहयोगात् स्थापना करना एक अत्यन्त सुन्दर और महत्त्वपूर्ण विचार है। परन्तु यह काम सरल नहीं है। प्रचण्ड शक्तिशाली राजाओं का सामना करना पड़ेगा। इस शक्तिमय यज्ञ में सवाधिष और प्रथम विरोध मगधराज जरासन्ध करेंगे, जो दिव्यगन्त कस के शत्रु हैं और जो स्वयं अधिनायक तत्र के संस्थापक ही नहीं, अपितु स्वयं एक भारी उरभेघ यज्ञ करने पर तुले हुए हैं। इस यज्ञ में बलि बढ़ाने हेतु उमने अभी तक छियासी राजाओं को परास्त कर बन्दी बना लिया है।' मथुरा छाड़कर द्वारिका में वृष्ण के जाघसने में जरासन्ध की अमातुपीय अत्याचार पूरा आनक भी एक कारण था। अतः युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ की सफलता के प्रति एकदम सशक्त हो उठे और यज्ञ करने के विचार तक को छाड़न की स्थिति में आ गये। वे निराशानन्द में डूबने लगे परन्तु भीम और अर्जुन ने हिम्मत बघाई तथा वृष्ण ने भी साहस और सूझ से यज्ञ सम्पन्न करने की मन्त्रणा दी। यदि जरासन्ध यज्ञ विध्वंस हेतु आगमण करता है या युद्ध की स्थिति पाण्डवों पर घोष देता है तो पाण्डवों का नवलम्ब राज्य सक्टापनावस्था में आना ही हो सकता है और मन-ही मन इनकी दुर्गति और मृत्यु चाहने वाले दुर्योधन आदि के नेतृत्व की कौरव-सत्ता इनकी स्थिति को आर भी भयावह बना सकती है। अतः वृष्ण ने इस दृष्टि से निःसम्भावित युद्ध में सहस्रा सैनिका का अनावश्यक विनाश भी न हो और न ही पाण्डव चारों ओर से शत्रुओं द्वारा घिर जाये, एक नयी युक्ति निकाली जिससे जरासन्ध भी मर जाय और युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ भी सफलतया सम्पादित हो जाय।

इस संकल्प को पूरा करने की दृढ़ इच्छा से मानवता के तीनों उपासक, अपनी नयी युक्ति के अनुरूप, ब्राह्मणवंश में मगध की राजधानी राजगृह पहुँचे। य तीन श्रेष्ठ मानव थे—भीम, अर्जुन और वृष्ण। पिछले द्वार में इ होन राजधानी में प्रवेश किया, और प्राचीर लांघ कर वे सीधे जरासन्ध की सन्निधि में पहुँच गये। कथा विस्तार के बिना यहाँ इतना विवरण ही पदाप्त है कि जरासन्ध की प्रताडना को सुनकर कि तुम इस प्रकार यहाँ क्यों आये हो श्री वृष्ण ने दृढ़ता से जा कहा उसका सार इस प्रकार है 'हम यहाँ पर तेरा वध करने हेतु आये हैं। तू भले ही पाप महायन्त्र करता हो, परन्तु तू धूर्त, अधर्मी और मानवघाती है। सम्पत्ति और सत्ता के लाल और धम्म से तू नाराजीय नरसंहारक उरभेघ करना चाहता है। उसके लिए तू ने छियासी राजाओं को अपनी जेल में इस दृष्टि से बंद कर रखा है कि जब पूरे सौ राजा तेरे बन्दी हो जायेंगे तो तू उरभेघ का सफल सम्पादन करेगा। मैं वृष्ण हूँ, मेरे साथ

भीम और अजुन है। युद्ध में तो तू भाग जाता है परंतु इस मलयुद्ध या द्वन्द्व-युद्ध हेतु महारथी आये है। तेरी शक्ति और सामर्थ्य हो तो इन दोनों में से किसी के साथ इच्छानुसार युद्ध कर।'

जरासन्ध अपने को महाशूरी और अथा को अपन सामने मच्छर समझता था। भीम के साथ द्वन्द्व-युद्ध का आह्वान जरासन्ध ने स्वीकारा और तेरह दिन और तेरह रात दोनों, तरह-तरह के भीषण और घातक प्रहारों और प्रतिप्रहारों द्वारा, लड़ते रहे। युद्ध की प्रचण्डता और भयंकरता से अतंतोगत्या जरासन्ध में तनिक शैथिल्य प्रकटा और चौदहवें दिन भीम के भीषण मुठिका प्रहारसे जरासन्ध घरती पर गिर पड़ा परंतु अद्वितीय पराश्रम से वह पुन युद्ध करने लगा। समय को देख कर कृष्ण ने भीम को एक सकेत दिया और भीम ने तुरन्त ही उसके दोनों पैर पकड़ कर उसके शरीर को चीर कर फेंक दिया। संधि बिखर गई, जरासन्ध मर गया और फनस्वस्व छियासी बंद राजा मुक्त कर दिये गये। कृष्ण ने जरासन्ध के पुत्र सहदेव का मगध के सिंहासन पर राज्याभिषेक किया।

एक जरासन्ध के मुक्तियुक्त वध से क्रूर नरमेघ का अंत हुआ, सिंत्यासी राजाओं का युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की सफलता हेतु सहज ही म हार्दिक सहयोग मिल गया, और मानव स्वतन्त्रता, धर्म-संस्थापना और 'यायोचित' जीवन के संरक्षण और संवर्द्धन हेतु पाण्डवों की दिग्विजय का मार्ग प्रशस्त हो गया। यह कितनी बड़ी उपलब्धि थी कि बिना किसी सैनिक, योद्धा आदि के रक्त की एक भी बूंद वहाय भारत के तीन चौथाई भाग में मानव-स्वातंत्र्य प्रोत्साही और सत्यपोषी धर्मराज्य की आधार शिलाएँ रख दी गईं। जीवन-मृत्या के संघर्ष के द्वितीय चरण की यह एक महत्त्वपूर्ण मानवीय उपलब्धि सिद्ध हुई कि राज्यसत्ता की मगध मथुरा धुरी टूट गई।

इन्द्रप्रस्थ में राजसूय यज्ञ की तैयारियाँ हो गईं। दश देश के राजे-महाराजे अतुल धनराशि और अमूल्य रत्नों के असंख्य उपहार लेकर यज्ञ में सम्मिलित हुए। कृष्ण की राम से युधिष्ठिर ने राजाओं को योग्यतानुसार दायित्व भार सापा—भीष्म और द्रोण ने यज्ञ की कायविधि सम्पन्न का काम सम्भाला, दुर्योधन ने भेंट, उपहार को सम्भाल कर रखने का दायित्व स्वीकारा, कृष्ण के दायित्व में ब्राह्मणों के चरण प्रक्षालन और पूजन का काय आया, और विदुर, अश्वत्थामा, कृपाचाय आदि सभी जनों ने तरह-तरह से अतिथियों की सुगुण सुविधा और यज्ञ मण्डप को सजाने व सफल बनाने का काय किया।

यज्ञ में अग्र-पूजा का प्रश्न उठा तो भीष्म की सम्मति से युधिष्ठिर ने

श्रीकृष्ण का अग्रपूज्य घोषित किया। यह सुनकर सहदेव कृष्ण के चरण पसारने लगे। चेरिराज शिशुपाल, जो कृष्ण की युवा का लडका था, कृष्ण के अग्रपूजन को सहन न कर सका। आवेश में आकर उसने भीष्म पितामह और कृष्ण को अटसट अपमानसूचक शब्द कहे। दिये गये वचनानुसार शिशुपाल को सौ गालियाँ तो कृष्ण ने सुनी और आगे और कुछ कहते ही कृष्ण के सुदान ने शिशुपाल का मस्तक छेदन कर दिया। और उसका कटा शीश घरा पर गिर पड़ा। दाताधरण की गम्भीरता और स्तब्धता से सहम कर युधिष्ठिर ने कृष्ण की स्तुति की। उनकी प्रसन्नता के फलस्वरूप राजसूय यज्ञ की पूणाहुति हुई और सभी राजा महाराजा ससम्मान और प्रसन्नता पूर्वक अपनी अपनी राजधानियाँ लौट गये। मानवीय स्वतन्त्रता का मयादा ध्वज फहराने लगा। मगध मथुरा की सत्ताधुरी की अंतिम सुदृढ इकाई छिन्न भिन्न हो गई।

यदि मगध धुरी का छिन्न भिन्न होना आतंकवाद, अत्याय, अनीति और अमानुषीय क्रूरता और कुटिल-कृत्या के सत्ता-केन्द्र और स्रोत का सबघा नष्ट होना था, तो कुरु पाञ्चाल धुरी का निर्माण मानववाद, जीवन-स्वातन्त्र्य और धार्मिक-त्याय के विकासो मुखी प्रेरणा-केन्द्र की संस्थापना का महत्त्वपूर्ण कदम था। यह दूसरी बात है कि कुरु परिवार में ही दुर्योधन की मयुमयता ने इस नूतन मानवीय विकास पथ को छलाच्छादित करके, शांति के सारे प्रयत्न का विफल करके, महाभारत के कौरव पाण्डव महायुद्ध को अपरिहार्य बना दिया।

राजसूय यज्ञ की परिममाप्ति पर मयदानव द्वारा विरचित समा भवन के अनिर्वाच्य और मतिभ्रमोत्पादी शिल्प सौन्दर्य का निरीक्षण करते समय जब दुर्योधन ने स्फटिक स्थल को जलाशय और जलाशय को पापाणस्थल समझकर अपने आप को भीम की हसी और द्रौपदी के दुसह्य कटु-यग का विषय बनाया, तब उस उमके मन में प्रतिशोध और प्रतिद्वन्द्विता की अग्नि और अधिक प्रज्वलित हो गई और शकुनि को लेकर दुर्योधन शीघ्र हस्तिनापुर लौट कर पाण्डवों के सब विनाश का जाल गूथने लगा। वह पड्यत्रकारी जाल शकुनि नियंत्रित द्यूतश्रीडा के रूप में प्रकट हुआ। यद्यपि विदुर ने घृतराष्ट्र को, पूछने पर, कहा, 'राजन् यह जुए का खेल सारे वंश के नाश का कारण बनेगा, तथापि दुर्योधन कर्ण और शकुनि के हठ के सामने घृतराष्ट्र की कुछ न चली।

द्यूत हुआ। युधिष्ठिर सब कुछ हार गया। द्रौपदी को भी दाव पर लगा देठा। दुर्योधन ने चाचा विदुर को कहा कि वह द्रौपदी को गोघ्न समा में लकर आये— वह पापाचारिणी 'अपुण्यशीला दासी गोघ्न मेर मटल में आय और झाड़ू लगाय — सम्माजतां वेश्म परंतु गोघ्न, तत्रास्तु दासीभिरपुण्यशीला (समा पत्र 66)। विदुर द्वारा फटकार दिये जाने पर कि द्रौपदी कुछ न चली।

बधू और इन्द्रप्रस्थ की सम्पत्ती है, और वह जुए में हारी नहीं गई है क्योंकि हारे हुए युधिष्ठिर को द्रौपदी को दाव पर लगाने का अधिकार ही नहीं था (सभापर्व 26 4) दुर्योधन ने प्रतिक्रामी को वह निलज्ज वाय सौंपा। प्रतिक्रामी की वित्तय को सुनकर द्रौपदी ने कहा, 'हे सूतपुत्र! तुम सभा में उन जुआरी महाराजा के पास जाओ और फिर यह पूछो कि 'आप पहले अपने का हारे थे या मुझे ?'

गच्छा त्व कितव गत्वा सभामा पृच्छ सूतज ।

किं नु पृथ पराजयोरात्मानमथवा तुमाम् ॥

सभापर्व 67 7

अनायास ही विदुर मानो द्रौपदी की जिह्वा पर आ बठा। यह प्रश्न सभा के समक्ष सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न गया और भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा आदि सयाने और धर्म धुरधर आचार्यों समेत सभी चौरवों की अपायपरक अमानवीयता और धर्मविहीन दुष्टाचारिता का प्रत्यक्षीकरण कराने वाला दण्ड बन गया।

बलात् द्रौपदी को, जो उस समय एक बसना और रजस्वला थी, सभा में लाया गया। (67 19) सभा में द्रौपदी ने वही प्रश्न फिर दोहराया। प्रश्न की गम्भीरता और मर्यादा को जानते हुए भी क्रिती ने प्रत्युत्तर में कुछ नहीं कहा। दुःशासन के निलज्ज और अपमान भरे दुर्व्यवहार के प्रति द्रौपदी ने वित्तय भरे शब्दों में कहा, 'दुःशासन मेरी लज्जा न ला, मैं मुल बधू हूँ। कुल मर्यादा की रक्षा करो।' दुःशासन सत्ता के आदेश में, पाशविक शक्ति के आधीन, मानवीय स्वतन्त्रता के अपहरण के उन्माद में कुछ सुनने वाला नहीं था। वह तो अट्टहास करता हुआ चीख पड़ा— 'द्रौपदी! तू रजस्वला, एक वस्त्रा अथवा नगी क्या न हो, हमने तुम्हें जुए में जीता है, अतः तू हमारी दासी है'— रजस्वला का भव यानसेनि, एकाम्बरा चाप्यथवा दिगम्बरा, शूते जिता चासि वृत्तासि दासी (सभापर्व 67 34) दुःशासन की कठोर और क्रूर मुद्रा को देख कर द्रौपदी गांधारी के भवन की ओर भागने लगी। दुःशासन ने दौड़कर द्रौपदी के खुले हुए धने बाल पकड़ लिए और उसे निन्दयता से घसीटता हुआ सभा में उपस्थित सभी वयोवृद्धों और राजाजों की दृष्टि में ला गया। द्रौपदी ने करुण श्रद्धा से सभी को धिक्कारा—

धिगस्तु नष्ट सलु भारताना

धमस्तथा क्षत्रविदा च वृत्तम् ।

यत्र ह्यतीता कुरुधमवेला

प्रेक्षती गर्वे कुरव सभायाम् ॥

सभापर्व 67 40

‘अहो ! घिबवार है ! भरतवश के तरेषा का धम निश्चय ही टूट हो गया तथा क्षत्रिय धम के जानने वाले इन महापुरुषों का सदाचार भी सुप्त हो गया, क्याकि कौरवों की धम मर्यादा का उल्लंघन हो रहा है तो भी समासीन सभी पुरुषवशी घुपचाप देग रहे हैं ।’ वह फिर कहती है, ‘द्रोणस्य भीष्मस्य च नास्ति सत्त्वम्’ अर्थात्, जान पड़ता है कि भीष्म पितामह आचार्य प्रवर द्रोण, महात्मा विदुर, महाराजा धृतराष्ट्र आदि सभी महापुरुषों का सत्त्व निक्ल गया ह ।

वृद्ध जन लज्जा से गढ गये, परन्तु दुर्योधन के प्रभाव के आगे कुछ बोल न सके । दुःशासन ने दासी बहकर द्रौपदी को जोर से धक्का दिया । वह मूर्छित-सी हो रही थी । कण को बड़ी प्रसन्नता हुई । उसने मिलतिलताकर दुःशासन के मथन और वृत्ति की बड़ी सराहना की— ‘एणस्तु तद्वाक्यमतीव हृष्ट सम्पूजयाभास हसन् सशब्दम्’ (सभा पत्र 67 45) । भीष्म बोले पर मिश्रित भाव म— जो स्वामी नहीं है वह पराय धन को दौव पर नहीं सगा सवता, परन्तु स्त्री को सदा अपने स्वामी के अधीन दत्ता गया है, अतः इन बातों पर विचार करने से मुझसे कुछ कहते नहीं घनना— ‘अस्वामी अशक्तं पणितु परस्व, स्त्रियादचनर्तुवसता समीक्ष्य’ (सभा पत्र 67 47) ।

निस्तहाय, निराश और आश्रोशपूर्ण द्रौपदी ने विडम्बना के उस लक्षण म, दुर्गा प्राग्वत लिखती हैं, ‘अनजाने, आवेग के प्रवाह मे, सत्य के उस मूल मानवीय आधार को स्पष्ट किया जिसे समस्त कलाएँ, समस्त धम सद्व दूढते हैं और दूढने पर ही सत्त्वशील कहलाते हैं । वह श्लोक शत शत नाद सहित गूज उठा मेरे मन म । सीधी सादी रचना है । नहीं हैं अनुप्रास का अवगुण्डन, नहीं है उपमा उत्प्रेक्षा की सजावट । परन्तु भरा है बुद्धिमानों, जानवानों और धमज्ञों के अनुभव का सार सवस्व । सत्य की परिमापा करता हुआ, तीव्र स्वर मे कहा गया और निवच कर देने वाला श्लोक—

ए सा सभा यत्र न सति वृद्धा

न ते वृद्धा य न वदति धमम् ।

नासी धर्मा यत्र च नास्ति सत्य

न तत्सत्य यच्छलेनानुविद्धम् ॥

ध्यासपत्र पृ 67

सभापत्र 67 52

अर्थात्, वह सभा नहीं है जहाँ वृद्ध पुरुष न हा, व वृद्ध नहीं हैं जा धम की बात न बतावें वह धम नहीं है जिसमे सत्य न हो, और वह सत्य नहीं है जो छल युक्त हो ।’ भीष्मोक्त वचन की छलयुक्तता पर ही यह करारा प्रहार न था, परन्तु सारी सभा, सभासद और सभा के सत्य और तात्पर्य की इसमे तीली सत्य चिकित्सा है ।

द्रुपदमुता के इस प्रदत्त कुठार ने कई समासदा के अन्तमन में चलबला मचा दी। भीम की जड़ समाधि भग हुई और वह गजन कर उठा, 'इद तु अतिश्रम मये' (सभा पव 68 4) अर्थात् द्रौपदी को जो दाँव पर लगाया है, इसे मैं अनुचित समझता हूँ। यह पम का, माप जीना की स्वतन्त्रता के सत्प्र का घोर अनादर है, अतिश्रमण हूँ। भीम ही नहीं, दुर्योधन के भाई विकण ने जो प्रस्तुतिवरण निणमाय सिंहासनासीन सभा के अनेक राजाओं के समक्ष किया, उसके लिए भीम मन ही मन उसका वृत्त हो गया, और अनेक समासदों ने दुर्योधन को अन्तमन से धिक्कारना आरम्भ कर दिया। इस घटना में जीवन मूल्यों के सघप को एक नयी बसोटी मिली, उसके लिए एक नया आयाम खुला और सघप के आगामी चरण का द्वार उमुक्त होने लगा। विकण ने कहा— 'कौरवो तथा अप भूपालो ! आप लोग द्रौपदी के प्रदत्त पर किसी प्रकार का विचार प्रवृत्त करें अथवा न करें, मैं इस विषय में जो यायसगत समझता हूँ, वह कहता हूँ (मये याय्य यदत्राह तद्धि वदयामि कौरवा)

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ने घूत जुआरिया से प्रेरित होकर द्रौपदी को दाँव पर लगाया है। सती साध्वी द्रौपदी समस्त पाण्डवा की समान रूप स पत्नी है, केवल युधिष्ठिर की ही नहीं। इसके अलावा, युधिष्ठिर पहले आपकी हार चुके थे, उसके बाद उहोने द्रौपदी को दाँव पर लगाया था। यह सब शकुनि की चाल है। इन सब बातों को विचार करके मैं द्रुपद कुमारी वृष्णा को जीती हुई नहीं मानता— एतत् सर्वं विचाय अह मये न विजितामिमाम्' (सभा पव 68 18-24)।

यह सुनकर सभी समासद विकण की सराहना और शकुनि की निंदा करने लगे। सभा में बोलाहल सा हो गया। तब राधानन्दन (कुतीनन्दन !) वण ने त्रौघावेश में विकण की मुजाओं को जार से पकड़ कर, उसे मूख आदि कहता हुआ, इस प्रकार बोला, ' कुरुनन्दन ! देवताओं ने स्त्री के लिए एक ही पति का विधान किया है, परन्तु यह द्रौपदी अनेक पतिया के अधीन है अतः यह निश्चय ही वैश्या है। इसका सभा में लाया जाना कोई अनोखी बात नहीं है। एकवस्त्रा और नगी हो तो भी यह यहाँ लाई जा सकती है। यह मेरा स्पष्ट मत है (सभा पव, 68 35 36)। दुःशासन ! यह विकण अत्यन्त मूढ़ है, तथापि विद्वानों की सी बातें यनाता है। तुम पाण्डवों के और द्रौपदी के वस्त्र उतार लो (स प 68 37)— पाण्डवाना च वासासि द्रौपद्याश्चाप्युपाहर ।'

फिर क्या था ! द्रौपदी चीर हरण का उपक्रम शुरू हुआ। द्रौपदी ने मन ही मन महर्षि वसिष्ठ के पूर्वजालीन उपदेश के अनुसार कि 'महत्यापदि

सम्प्राप्त स्मृतव्यो भगवान् हरि ' श्रीकृष्ण की मूक रुदनवत् प्रायता वी— 'हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे ब्रजनाथ ! हे सकटनाशन जनादन ! मैं कौरव रूप समुद्र में डूबी जा रही हूँ, मेरा उद्धार कीजिये ।' द्रुपदनदिनी की यह वरण पुकार सुनकर दयानिधि श्रीकृष्ण गद्गद हो गये, कृष्णा की रक्षणाय उसी क्षण दौड़ पड़े और अव्यक्त रूप से उसके वस्त्र में प्रवेश करके नानाविध सुन्दरातिसुन्दर वस्त्रों द्वारा द्रौपदी को आच्छादित कर दिया— 'वसन रूप मये श्याम' । दुःशासन की भुजाएँ थक गईं, समासद चकित हो गये, द्रौपदी उपकृत और हर्षित हो गई । सवन आश्चर्य भरा शोर मच गया । दुःशासन को सभी कोसने लगे ।

अब भीमसेन से रहा न गया । समस्त राजाओं के बीच हाथ पर हाथ मलते हुए महाबली भीम ने क्रोध से फड़कते हुए ओंठों द्वारा भयकर गजना के साथ यह शाप दिया (प्रतिज्ञा की)— 'शाप तत्रभीमस्तु ।' उसने कहा, 'यह छोटी बुद्धि वाला दुःशासन भरतवश के लिए बलक है । मैं युद्ध में बलपूर्वक इन पापी की छाती फाड़ कर रक्त पान करूँगा । यदि न पीऊँ तो मुझे अपन पूर्वजों की गति न मिले' (सभा पर्व 68 52 53) । भीमसेन की यह प्रथम शोकाति थी भीषण प्रतिज्ञा थी जिसमें भावी दुःघटना का गजन भरा घोष है ।

उधर दुःशासन धीरे-धीरे रौंछते रौंछते एकदम थक गया । पर वह द्रौपदी को निवसना न कर सका । आसिर वह लज्जित होकर चुपचाप बठ गया । कृष्ण ने कृष्णा की लाज रक्ष ली । दुर्योधन के लिए यह सब कुछ सह्य नहीं था । उसने समा में खड़ी द्रौपदी के प्रति अभद्र संकेत करते हुए अपनी जाँघ का वस्त्र उपाड़ा और उसे द्रौपदी का दियाया । भीम का धैर्य पुन टूट पड़ा और उसने दूसरी प्रतिज्ञा सहज ही म कर डाली— 'अधम दुर्योधन ! तिस जाँघ पर बैठने का इतना करके द्रौपदी का अपमान कर रहा है, उस जाँघ को अपनी प्रचण्ड गदा के प्रहार से तोड़ दगा (सभा पर्व 71 14) । भीम के घोर गजन से सभी समासद भय से काँपने लगे । अंधे घृतराष्ट्र को दिलाई तो कुछ भी नहीं रहा था, पर समा में सभी कुछ ध्वंस को सुनकर वे बैठे बैठे यह अनुभव कर रहे थे कि वहाँ जा कुछ हुआ वह जाके बुल के महार का कारण बनगा । अतः द्रौपदी का अपने पास बुलाया, उसे शात्त्वना दी और फिर मुघिठिर की बार मुडकर कहा, मुघिठिर ! तुम उदार हृदय हो ! दुर्योधन की दुष्टता का भूत जाजा । अपना घन राज्य सब कुछ चापस हुआ समझो ! फिर द्रौपदी को बन्ने प्रेमादर बुद्धि से कहा— 'एषमुत्तमा घतराष्ट्रो मनीषि' (पहली बार वेद मास न घतराष्ट्र को मनीषि कहा है, सम्भवत इतलिए कि यह प्रथम अंगर था कि उन्नी विचार मगा करत मनन निणय यत किया था) -

वर वृणीष्व पाञ्चालि मत्तो यदमिवाञ्छति ।
 वधूना हि वशिष्ठा मे त्व धमपरमा सती ॥
 स प 71 27

हे पाञ्चालि ! तुम जो चाहो वह वर माग लो । तुम सभी वधुओं से वरिष्ठ
 हा, श्रेष्ठ हो, तुम सती साध्वी धमपरायणा हो ।'

जिसने भरी सभा में साज रखी है उसी दिव्य सत्ता की प्रतिमूर्ति श्रीकृष्ण
 न घृतराष्ट्र को वरदायक बुद्धियोग दिया है, ऐसा मानती हुई द्रौपदी ने बड़े
 विनय और विवेक से वर मागा कि 'धमप्राण युधिष्ठिर का दासत्व से विनिर्मुक्त
 कीजिये जिससे मेरे मनस्वी पुत्र प्रतिविद्य को अनानदश दूसरे राजकुमार ऐसा
 न कह सके कि यह 'दासपुत्र' है (सभा पर्व 71 29) ।' 'तथास्तु' कह कर जब
 घृतराष्ट्र ने एक और वर मागने के लिए कहा, तब द्रुपदसुता ने कहा कि
 'भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव अपन रथ और धनुषबाण सहित दास भाव
 से रहित और स्वतंत्र हो जाये (सभा पर्व 71 32) ।' इस वर के दे देने पर
 घृतराष्ट्र ने एक तीसरा और वर मागने को कहा, पर तु द्रौपदी ने यह कर कि
 'लोभो धम नाशाय भगवन् नाहमुत्सहे चुप हा गई, और अपनी स्वामिमान-
 जय अस्मिता आर धमपरायणता का परिचय दिया । घृतराष्ट्र ने स-सम्मान
 युधिष्ठिर का इन्द्रप्रस्थ लौट जान के लिए कहा और सभी पाण्डव द्रौपदी
 सहित, गुरुजनों को प्रणाम करके इन्द्रप्रस्थ की ओर चन पड़े ।

पुन घृतश्रीडा ओर पाण्डवों को तेरह वष का वनवास

दुर्योधन के सारे पक्षत्र पर घृतराष्ट्र की उदारता से भीषण तुपारापात
 हो गया । वह आक्रोश के साथ आया और घृतराष्ट्र से कहने लगा, 'हे धनु-
 सूदन ! शत्रुओं का तो सब प्रकार के उपाय से हनन करना चाहिए'—सर्वो-
 पार्थनिहतव्या शत्रव शत्रुमूढ—(सभा पर्व),' पर-तु आपने मेरे सब
 प्रयत्न पर पानी पेर दिया है । पाण्डवों का पतन होना ही चाहिए । उन्हें पुन
 घृत म बुलाया जाये । इस बार सत मह रखी कि जा जूए में हारेगा, वह
 भाइया सहित तेरह वर्ष वन म व्रितायेगा, और तेरहवों वष अज्ञातवाम का
 होगा । घृतराष्ट्र की मनीषा दुर्योधन के सामने चल न सरी, निवश होकर
 घृतराष्ट्र ने कहा कि अभी तक पाण्डव इन्द्रप्रस्थ पहुँचे ही नहीं होंगे, अत उन्हें
 माग में से ही वापिस बुला ले आओ ।

इत गया, य आये, घृत की शर्तें गुनाई गई, शकुनि के कमाल से पाण्डव
 श्रेष्ठ युधिष्ठिर ने फिर जूआ मंगा । परिणाम तो निश्चित ही था, हारे हुए
 पाण्डवों ने गतांगुमार तरह वष का वन गमन आरम्भ किया ।

जीवन मृत्या के दम भीषण मघप के द्वितीय वरण में 'धमराज युधिष्ठिर

की प्रमादजय महान भूल के साथ महाभारत के चरित्र नायको की मनस्थली में होने वाले अतद्धृद्व भी सामने आते हैं जिनसे यह मत सहज ही म बन जाता है कि इस चरण का सघप भौतिक अस्तित्व के स्तर से कही अधिक ऊँचा अस्मिता और स्वातन्त्र्यजय सैद्धांतिक एवं नैतिक स्तर का भारी सघप था जिसके बिना जीवन मानवता के सद्गुण रूपी विकसित सुमन की सुवास से परिपूरित और अनुरजित नहीं होता, जिसके बिना सत्य के प्रति जिज्ञासा जाग्रत और सक्रिय नहीं होती, जिसके बिना सत्य का स्पष्ट व साक्षात्कार अलभ्य ही रह जाता है।

‘सत्य ज्ञानमनंत ब्रह्म’ की अखण्ड चिन्मय दृष्टि से तो अनंत सत्य ही नर जीवन का परम ध्येय है, परंतु सत्य सामान्यतया तीन स्तरों पर नातय है स्थूल, सूक्ष्म और परम स्तर पर। स्थूलसत्य इन्द्रियगोचर होता है, यह दृष्ट तत्पट्ट याम से स्थूल सत्य परिवर्तनमूलक चरित्र वाला है। सूक्ष्म सत्य का बोध व दर्शन सतत मननशीलता, गहन विचार भ्रमण और सत्पुरुष की वाक्सुधा के प्रवाह में शक्य है, परम सत्य के साक्षात्कार के मूल में निर्विवाद रूप से सत्यानुग्रह हो होता है। सघप के इस द्वितीय चरण में मानव के जीवन मूल्यों के सत्यस्वरूप का दान प्रथम दो स्तरों पर अधिक स्पष्ट और सुलभ है वनिस्पत कि तीसरे स्तर पर।

वीरव समुदाय के चरित्र नायक, इस चरण में, प्रधानतया दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, विदुर, विकर्ण और धृतराष्ट्र के अतिरिक्त भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य हैं। दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण पाण्डवों को शत्रु मानते हैं, उन्हें मार डालने के लिए छलवपट रचते हैं पडयन्त्रकारी हैं और अघम से अघम काय करने में भी सकोच नहीं करते। नारी जाति का प्रतिनिधित्व करने वाली द्रौपदी के प्रति, उसके चौरहरण के समय कहे और अनकहे शब्द और संकेत कितने अपमानपूर्ण अमानवीय अयायोचित और अघम थे, उनसे उनका मनोमालिन्य, चारित्रिक निवृष्टता राजोमाद, और भोगलोलुपता का स्पष्ट आभास मिलता है। विदुर उत्तम विचार वाले हैं, स्वतंत्र और श्रेष्ठ जीवन उनकी रहनी में समाविष्ट है, अतः वे निस्संकोच सत्य का प्रवर्तन कर देते हैं, दुर्योधन को डाँट भी देते हैं, धृतराष्ट्र को सही सलाह ही देते हैं चाहे दुर्योधन के भय से वे उसे प्रियाचित्त कभी न करें। विकर्ण के मतों राज्ज में सत्य तडप कर उठ बैठा और जो कुछ भी उसने द्रौपदी के समक्ष में कहा, यह सत्य को स्वतंत्र अभिव्यक्ति देने और स्वीकारने की तीव्र वेदना व उत्कण्ठा का परिधायक है। जीवन् मृत्या का सघप विकर्ण की नैतिकता, दायपरव मानवीयता और सत्यपरायणता को स्पष्ट और व्यक्त कर गया। भीष्म की धर्म और मय

सम्बन्धी मिश्रित उक्ति दुर्योधन के प्रभाव के समक्ष उसकी क्षयो-मुखी स्वतन्त्रता और भीरुता को ही पकट करती है। जो व्यक्ति प्रतिज्ञा-परायणता में सव-निरोमणि और राज्य प्रशासन एवं समर विज्ञान में निष्णात और अग्रगण्य होने के नाते 'नीपम' कहलाया, वह धर्माधर्म निणय के प्रश्न पर इस प्रकार बतला जाये, मानव जीवन मूल्यों के सघष को तनिक तीक्ष्णता ही प्रदान करता है। द्रोण तो वित्कुल चुप रहे, आचायत्व ही भूल गये। द्रुपदजित अजुन की प्रिया आर जीवन सगिनी की भरी सभा में दुःशामन लाज लेने पर उताह हो जाये, और द्रोण अकृतज्ञापूण जठ समाधि ले बैठे। लगता है, जब स्व अस्तित्व का आच लगने की भीतिपूण सम्भावना होती है, तब बुद्धिमानों और वयोवृद्धों का विवेक भी इसी में है कि वे स्व पद और स्व सम्मान रक्षाय, धर्म नीति आदि की मर्यादा से दूर, मोन का निष्कण्टक सहारा ले ले। द्रोण का मोन-व्यवहार नीपम की मिश्रितोक्ति से अधिक अनुचित लगता है। परन्तु घृतराष्ट्र की शीघ्र निणयात्मक प्रतिक्रिया चाहे वह महात्मा विदुर का प्रेरक प्रताडना व मन्त्रणा से ही हुई हो, समासदा को शांत, द्रौपदी को सन्तोष और पाण्डवों को स्वातन्त्र्य जीवन का रस प्रदान करने वाली सिद्ध हुई। यहाँ, क्या यह ध्यातव्य नहीं है कि आदि पव के आरम्भ में (अनुग्रमणिका पव) जहाँ महर्षि व्यास दो महाद्रुमों का रूपक बाँधते हुए घृतराष्ट्र को दुर्योधन नामक मधुमय महाद्रुम का 'अमनीषि मूल' कहा है—'मूल राजा घृतराष्ट्रोऽमनीषी'—यहाँ उही वेदव्यास ने घृतराष्ट्र को पाञ्चाली को वर देन की घोषणा करत समय 'मनीषि' शब्द से अभिहित किया है। सारागत, जीवन मूल्यों के आन्तरिक सघष की प्रक्रिया में घृतराष्ट्र मनीषायुक्त होकर धर्ममय और मानवीय होना चाहता है, परन्तु दुर्योधन के आगे उसकी दाल नहीं गलती, और वह परिस्थितियों के दास की तरह जीवनयापन की विवगता में लुडक जाता है।

जीवन मूल्यों का सघष दो मोर्चों पर प्रमुखतया लडा जा रहा है वैयक्तिक और सामाजिक, वैयक्तिक मोर्चा हृदय के अन्तर में है, सामाजिक मोर्चा व्यक्ति के बहिर्गत में है। यस्तुत अन्तर्गत का सघष ही बहिर्गत में व्यक्त होता है और सामाजिक जीवन का बहिसघष मनुष्य के अन्तर्गत य बुद्धि को भी प्रभावित करता रहता है। सघष मनुष्य के विश्वास का साधक बन जाता है यदि वह जीवन की सत्यता को सहजतया स्वीकारता हुआ अपने साधारण विचार को बहुजाहिताय और मुलायम सस्कारित करता रहे, यह माय सूत्र है, अधिक गजगता, धर्म और पुरुषाय की अपेक्षा करता है। पाण्डवों ने इसी पथ का अनुगमन और अनुसरण परिस्थितियों के प्रमय प्रसंग में सावधानी, विवेक और अपूर्व धीरज के साथ किया था। पाण्डव समुदाय में सभी

सदस्या का अत्यन्त सन्निय और साहसपूर्ण योगदान रहा था सघप के इस चरण में । भीम ने स्वशक्ति का प्रयोग माता कुन्ती के आदेशानुसार ब्राह्मण की प्राणरक्षा आर नगर को बकामुर की हिंसा-बलि में युक्त नशसता और आतंक से सर्वथा उन्मुक्त कराने में किया, दूसरो को उसने स्नाथ सिद्धि हेतु नभी उत्पीडित नहीं किया, स्वयं स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने वाले दूसरो के जीवन स्वातन्त्र्य की पवित्रता व रक्षा का ध्यान रखत हं । सभी पाण्डवा मे यह गुण समान रूप से विकसित हुआ है । अत जैसा कि पहले निवदित-विवचित हो चुका ह सघप के प्रथम चरण का मूल आधार अस्तित्व था और द्वितीय चरण का अस्मिताजय स्वतन्त्रता और स्वाभिमानजय समता व पाय । इसका सम्मग दशन इस चरण की सभी घटनाआ मे सुलभ है परन्तु द्रौपदी चीर हरण मे तो इस दशन की पराकाष्ठा है ।

धर्मराज युधिष्ठिर द्यूतखीडा मे सब कुछ हार चुके हैं परन्तु प्रत्येक दांव के पीछे उनकी एक मात्र मनोभिलाषा हारा हुआ पुन जीत लेकर स्वतंत्र हो रहना है । स्वयं को हार जाने के बाद शकुनि के छत्रबल में आकर द्रौपदी को दाव पर लगाते हैं, तो उनके मन की अनवही इच्छा अवश्य ही यह रही होगी कि यह दाव यदि मुझे जीत प्रदान करती है तो हम सब पुन स्वतंत्र हो सकते हैं । इसी में उनका स्वाभिमान भी रक्षित हो सकता था परन्तु अतुल पराजयी पाण्डव अपने ज्येष्ठ भ्राता की द्यूत पराजय के फलस्वरूप अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो चुके हैं, उनकी अस्मिता टूट चुकी है और उनकी आखा के सामने जब द्रौपदी को समा में घसीट कर लाया जाता तब वे स्वतंत्र धर्म हेतु सुब छटपटाते हैं, परन्तु उनकी धर्मपरायणता उन्हें कुछ करने नहीं देती । मक्के सब काठ के बने से बँडे रहते हैं । भीमसेन के हृदय में तो शोध का ज्वालामुखी गडगडाता है, परन्तु युधिष्ठिर के आदेश से मर्यादित वे नतमस्तक होकर सब कुछ सह लेते हैं । यह है आन्तरिक विकास का क्रम—व्यष्टिगत तन मन आर बुद्धिबल की सीमाआ का अतित्रमण करके समष्टिगत धर्म नियन्त्रित विश्व गविधान की गतिविधिया की बलिवेणी पर अपने स्वत्व को स्वाहा कर देना । पाण्डवा ने इस प्रक्रिया को तप की सरलता से अपनाया, इसलिए उनके चारित्रिक गठन में मानवीय स्वतन्त्रता, स्वाभिमान जय स्वावलम्बन एवं सत्यपरक आचरण का सदा प्राचुर्य रहा । उनके व्यक्तित्व में आत्मीयता, समत्य और स्वाधीनता के मूल्या का समन्वय-सुमन मिलने लग गया । इसीलिए तो म्यय घतराष्ट्र को यह कहना पडा कि हे युधिष्ठिर ! तुम में धर्म है अजुन में धर्म है, भीमसेन में पराक्रम है और नकुल-सहदेव में श्रद्धा एवं विगुड गुरु गेवा का भाव है । अजानात्रो ! तुम्हारा मता हो ।'

त्वयि धर्मोऽणुने धैर्य भीमसेने पराक्रम ।
 श्रद्धा च गुरुगुथुपा यमयो पुष्टपाश्रययो ॥
 अजात शत्रो भद्र ते ॥

सभापत्र 73 15 16

द्रौपदी के प्रति धृतराष्ट्र के उद्गार न केवल द्रौपदी के जीवन मूल्यों के प्रति धृतराष्ट्र की आदर बुद्धि का चोतन करते हैं, परन्तु स्वयं धृतराष्ट्र के हृदय में मनीषा के नवी मेघ एवं धम के प्रति चेतना के अकुरन का परिचय देते हैं। चाहे वह नवी-मेघ और चेतना का अम्बुदय अल्पजीवी ही क्या न सिद्ध हुआ हो। द्रौपदी के जीवन में जिस प्रलयकारी सघप का दण्ड हमें उमके चीरहरण के समय जाना है वैसे आज्ञा नहीं होता। समा, वृद्ध, धम और सत्य का ममस्पर्शी अर्थात् घाटन जिस सरन चित्त से सकटापन्न बाल में द्रौपदी अत्यन्त समर्पित भाषा और शालीनता के साथ कर सकी है, यह उसके व्यक्तित्व के आतिरिक्त विद्वान की अनुपमता का असदिग्ध प्रमाण है। सभी सभासदों को अपने विवेक जय प्रश्न से कि जूए में पहले महाराज युधिष्ठिर हारे थे या पहले वे उसे हारे थे, सवधा निरच ही नहीं किया परन्तु दुश्मन के सेमे के विवेक की मनस्यती को इतना एवक्षोर दिया कि वह दुर्योधन के विरोध में द्रौपदी के समथन में सत्य को प्रकट करन में अपने जापको गौरवाचित और मोभाग्यगील समझने लगा। सत्य के सहारे व जवलम्बन से निस्तेज और न कुछ व्यक्ति भी तन्नोमय जार महत्त्वपूर्ण बन जाता है। इसका अतिरिक्त विवेक की प्रशामा म और कोई विशेष आधार भी ता नहीं ह समूचे महाभारत में। द्रौपदी को सचाधिय लोकप्रिय बना देन वाला मयानक भी तो यही ह कि घोर अपमान के असह्य और असहाय क्षणों में उसने अपन अम्यन्तर में जीवत्व की सभी सीमाओं का अतिभ्रमण करने वाले श्रीकृष्ण का विदवात्मा के साथ, प्राथना द्वारा, अपने को समर्पित कर जाड दिया। कृष्ण का कृष्ण भाव में अवरोहण होते ही मानवेन्द्र और धमरक्षक कृष्ण के वसन रूप में अवरोहण करने द्रौपदी की ताज ही नहीं रखी, परन्तु समस्त धमानुरागियों को प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा आश्वस्त कर दिया कि जिघर धम ह, उघर कृष्ण है, और जिघर कृष्ण है, उघर विजय है—

‘यतो धमस्ततो कृष्ण यतो कृष्णस्ततो जय’।

द्रौपदी की प्राथना में कृष्ण के प्रति—सत्य के प्रति—अनन्यता का बल था, धुद व्यक्तित्व के सभी बलाधमा के दूटत ही, भद्र विराट के आश्रय की अनन्यता के प्रकट प्रभाव की गरिमा को व्यक्त करन वाला यह ज्वलन्त उदाहरण है। द्रौपदी के लज्जा रक्षण में ‘वसन रूप मये श्याम’ न धमरक्षण के साथ साथ सत्य

की सर्वापरिता का ही प्रकटन नहीं किया पर तु यह भी सिद्ध किया कि मानव जीवन में श्रेष्ठ जीवन मूल्यों के माग की यात्रा अत्यन्त कठिन यात्रा है, इस यात्रा में बार बार पथ तिमिराच्छन्न हाता है, द्वन्द्व की धुंध से मन की बाध बढ़ सी हो जाती है, प्रज्ञा पर पक्षाघात हो जाता है, चारों ओर अंधकार छा जाता है, कुछ नहीं सूझता। दुर्याधन को द्यूतसभा में द्रुपदसुता की ठेसी ही विपन्न एक निशीथमयी स्थिति थी। परंतु उसने अपने हृदय में आस्था का एक दिया जलाया जिससे उसे उस घनीभूत अंधकार में भी सघपाथ आलोक का सम्पर्क मिलता रहा। इस क्षण युधिष्ठिर के अंतमन में भी इसी आलोक का बल था। अपने अनोखे और प्रज्ञाप्रदीप्त समालोचन ग्रन्थ 'महाभारत का काव्याथ' में श्री विद्यानिवास मिश्र बड़ी क्लामयता के साथ लिखते हैं—

‘महाभारत वीर गाथा नहीं है, युद्ध गाथा भी नहीं है, वह मनुष्यत्व की कठिन यात्रा काव्य है। इस यात्रा में बार बार अंधरा घिरता है, कुछ नहीं सूझता है, पर एक दिया उस अंधकार से निष्कम्प भाव से जलता रहता है—उसकी दीवट सत्य की है, उसमें तल तप का है, बत्ती कर्षणा की है, तीक्ष्णता की है। बड़े यत्न से यह दिया जलाया जाता है, क्योंकि न इतना तप जादमी संचित कर पाता है, न इतना दृढ़ आधार सत्य का उसके पास खड़ा हो पाता है, न इतनी कर्षणा उससे पूरी जाती है, न इतनी क्षमा (अविकृत क्षमा) उसमें अपने को जला कर दिपती रह सकती है। तब भी अंधकार की चुनौती है, मनुष्य को दिया जलाना ही है।’

‘सत्याधारस्तपस्तैल दयात्रति क्षमा शिक्षा ।
अंधकारे प्रवेष्टव्ये दीपो यत्नेन वायताम् ॥’

भारत मानव जीवन मूल्यों के सघप के द्वितीय चरण में महर्षि याज्ञवल्कर बार बार बताते हैं कि मनुष्य की जीवन यात्रा—और वह भी पुरुषार्थ चतुष्टय के घर्म पथ की यात्रा—ऋजु और विपदा विहीन यात्रा नहीं है, कई टंके में टंके और भयावह उतार चढ़ाव आते हैं परंतु समय, श्रद्धा और सत्यपरामर्शता के सहार भय उपस्थित हो जाने के सबदकाल में निर्भीकता और धैर्य से उस भय का नाश करना ही नरत्व है नरोत्तमता की पहचान है— आगत तु भय दृष्ट्वा प्रहृत्तयम् भीतयत्’ (शान्तिपर्व 140 33)। इसी में अस्मिता के सरक्षण-संवर्द्धन का सार संभव है, आत्मस्वातंत्र्य और सुख-दुःख में साम्यावस्था की प्राण प्रतिष्ठा है, श्रेष्ठ जीवन का नरोत्तम के घरातल पर आह्वान और उद्घाटन है।

द्वितीय दूत मे भी सब कुछ हार कर पाण्डवो ने घमराज युधिष्ठिर के साथ द्रापदी को लेकर तेरह वष की वनवास यात्रा का श्री गणेश किया। वृद्धा माता कुन्ती का समझा बुझा कर महात्मा चाचा विदुर के साथ रहने हेतु राजी कर लिया। तहरवाँ वष अज्ञातवास का वष था। इस वनवास की पूर्णावधि समाप्त होने पर पाण्डव दूत की शर्तागुमार हस्तिनापुर लौटकर आये और म सम्मान स्वतंत्र जीवन यापन हेतु, रहने योग्य, राज्य मे स्थान मागा। दुर्योधन सुई की नोक जितनी भूमि भी देने के पक्ष में नहीं था, अत उससे कुछ भी देना स्वीकार नहीं किया। क्षत्रियोन्नत युद्ध द्वारा ही दुर्योधन से कुछ प्राप्त किया जा सकता था, परन्तु घमराज युधिष्ठिर युद्ध के पक्ष में नहीं थे। सन्धिवात्ताएँ आरम्भ हुईं। सत्रय, कौरवाधिप धृतराष्ट्र की ओर से, पाण्डवों के पास यह कहने के लिए आये कि घमज्ञजन पदाथ बुद्धि नहीं रखते, मिश्रावृत्ति से ही निवाह करने में उनका गौरव है, अत उन्हें कौरव राज्य छोडकर अथत्र कहीं उदर पूर्ति हेतु चले जाना चाहिए, पाण्डवा की ओर से श्रीकृष्ण शान्तिदूत बनकर गय, परन्तु दुर्योधन के असम्मानजनक तथा अयाम पूर्ण व्यवहार ने कौरव पाण्डवा के बीच युद्ध अनिवार्य कर दिया।

पाण्डवा के सामने भारी चुनौती थी। दुर्योधन के नेतृत्व मे कौरवों ने आश्रमक रूप धारण कर लिया, अधम मनुष्य का पाशविक, हिंसक और उग्रवादी बना देता है, इसमे कोई संशय नहीं, वह दूसरों की सम्पत्ति और स्वतंत्रता का अपहरण करके स्वय की स्वाथ सिद्धि के साम्राज्य विस्तार को संवषा यापपरक, मानवोचित और धर्मानुकूल मानने व घोषित करने मे रत्ती मात्र भी सकोचात्तु नहीं होता, उल्टा, युद्ध और राजनीति मे सब कुछ उचित ही है, ऐसा डिम डिम घोष करने में वह मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा मानता है। ऐसी स्थिति मे क्या धार्मिक चिंतन व चरित्रवाला जन व जनसमुदाय घम की ओट में जाने वाली अमानवीयता को चुपचाप सहन करता रहे या यायोचित माग और मानवीय धम की सही प्रतिष्ठा हेतु उसका डटकर प्रतिपार कर? क्या घम मनुष्य की शौर बनाता है या तेजोमय? क्या त्वघम और म्पत्तता की रक्षा हेतु आतकवादी अधम के विरोध मे मनुष्य का यायोचित विद्रोह करना धर्मानुकूल कम नहीं है? क्या घम, आपत्तिकाल में, उग्र और आश्रमक रूप धारण करके मानवीय जीवन के आदश मूल्यों की रक्षा करने से गौरवान्वित नहीं होता? यदि घम प्राण राज्यसत्ता यामी, मानवता प्रोत्साहिनी और सामर्थ्यवा नहीं होगी, तो क्या प्रजा मे अनीति और आतक, अधमता और उद्दता का भयावह और अनह्याणकारी तंत्र नहीं फैल जायेगा?

क्या अधम के साथ समझौता करके मानवता की रक्षा और मानव जीवन को पावन स्वतंत्रता की वृद्धि की जा सकती है? पाण्डवों की शक्ति के पुनारिया के सामने घुटने टेक देना और कहना कि धर्म का मर्म इसी में है कि हम विद्रोह न करें, शांत रहें क्योंकि अधम के प्रतिवृत्ति में अहिंसा का हनन होता है क्या धर्म की अवना नहीं? अधम और अत्याय को सहन करना क्या मानवता विरोधी तत्त्वों को बढ़ावा देना नहीं है? धर्मप्रिय युधिष्ठिर इन प्रश्नों के समाधान का दशन धर्मशीलता में करन लगे। वे 'शठ प्रति सत्यम्' बुरे के प्रति (विरोध में) सत्य का प्रजाराहण करने में इसलिए सकोच करन के पक्षधर थे कि इस ध्वजाराहण में अपार जन धन का ध्वम अवश्यम्भावी था। इस भीषण परिस्थिति में 'क्या धर्म है—क्या अधम है'—प्रश्नजय जो भारी चुनौती सामने आया थी, उसका पाण्डवों ने किस विधि निवारण किया वह मानव जीवन मूल्यों के सघर्ष में इस तृतीय चरण का मूल कलेवर है जिसका विवरण विवेचन घटनाक्रम की प्रासंगिकता में ही अपेक्षित है।

प्रमुख घटनाओं की पृष्ठभूमि और सूयाङ्कन

ज्याही सभी पाण्डव वनगमन कर लेते हैं त्याही दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन आदि एक साथ बैठकर यह परामर्श करत है कि कोई ऐसा कदम उठाया जाना चाहिए कि पाण्डवों का वन में ही सवनाश हो जाये और दुर्योधन के एक छत्र राज्य में कौरवों का ही बाल बाला हा। दुर्योधन की दृष्टि में पाण्डव शीघ्र मार डालने योग्य शत्रु हैं जिनका अस्तित्व मूल्य में ही कारवा की श्रेय सिद्धि है। शत्रुनि आदि दुर्योधन के म तथ्य का समर्थन करत हैं और कर्ण बड़े उत्साह में साथ कहता है कि किसी को कानोकान सबर ही नहीं मिल और हम सब मिल कर वन प्रदेश में भ्रमण करत हुए पाण्डवों को सदा की नींद सुला दें ताकि हम भविष्य में अभय हाकर राज्योपभाग करें—

तेषु सर्वेषु शा तेषु गतेष्वविदिता गतिम् ।

निविवादा भविष्यति घातराष्ट्रस्तथा वयम् ॥

वनपर्व 7/19

इस निणय की त्रियाविति हेतु वे सब अपन अपन भव्य रथा में सशस्त्र बैठकर सेना सहित कूच करन ही वाले थे कि मत्पि वेद-यास वहाँ आत हैं, घृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रों से सवाद स्थापित करत हैं और उन्हें पाण्डव हत्याथ वन में जाने से रोक लत है। यह है पाण्डव विरोधी दुर्योधन दृष्टि आर इसी मूल दृष्टि से दुर्योधन आदि सगो जना के जीवन मूल्यों की सट्टि हुई है। कितनी सर्वणि और कितनी स्थाथ परक! कितनी अमानवीय, कितनी जघन्य और कितनी द्वेषयुक्त!

इसके ठीक विपरीत हे युधिष्ठिर की धर्मपरक अत्यन्त उदार और सव-हितकारी मानवीय बुद्धि जिसकी उचरा भूमि में से अकुरित और पल्लवित जीवन मूल्यों की श्रेष्ठता मानवता के तत्त्वों का, बिना भेदभाव और समता के दर्शनानुबल, पोषण करने वाली सिद्ध हुई और हो रही है। एक समय जब पाण्डवा की वनवास भोगत काफी समय व्यतीत हो गया तब दुर्योधन को लगा कि वनवास की अवधि समाप्त होन से पहले, उनकी जीवन लीला की इति थी कर दी जाये तो वह निरापद राज्योपभोग कर सकेगा। इस मलिन उद्देश्य से उत्प्रेरित होकर कण, दुर्गासन, दुर्योधन आदि अपने पूरे वनवास और बड़ी सेना सहित वन प्रदेश में पहुँचे। एक स्थान पर सुरम्य सरोवर था जहाँ इंद्र की प्रेरणा से गंधवराज चंद्ररथ विहार कर रहा था। मदीमत्त, दुर्योधन, कण आदि ने उस पर आक्रमण कर दिया क्याकि कौरव श्रेष्ठ स्वयं वहाँ जल शीला करने का इच्छुक था। युद्ध में कण के छक्के छूट गये, वहाँ से वह प्राण रक्षाथ भाग उठा हुआ, दूर निकल गया। गंधवराज के अपार मयबल और मायाबल के सामन दुर्योधन का न केवल पूण दपदलन और तेजो भग ही हुआ, अपितु सभी रानियो और कौरव कुल वधुआ सहित दुर्योधन को कैद कर के आवाश भाग से उह ले उठा। कौरव दल में सबत्र हा हा कार मच गया, 'नाहि माम्' के शब्द नभ मण्डल से भूतल पर वनवासी वेश में विचरण और विराम कर रहे युधिष्ठिर और सभी पाण्डवों ने गुने, इतना ही नहीं कौरवों के अमात्य और अय मन्त्रीगण जो गंधवराज के प्रहार से बच गये थे, वे आतनाद करत हुए धर्मराज युधिष्ठिर के शरणापन्न होकर याचना करने लगे कि वे भी गंधवराज का पीछा कर दुर्योधन और कुल वधुआ को रिपु-बंद से मुक्त करावें। कौरव कुल की भयादा सतरे में है—

प्रियदर्शी महाबाहुर्धतराष्ट्रो महावत ।
 गंधर्वोह्लियत राजा पार्थास्तुमनुधावत ॥
 दुःशासनो द्विपहोदुर्मुखो दुजयस्तथा ।
 बद्ध्वा ह्लियते गंधर्वे राजदाराश्च सधश ॥
 वनपव, 242 ॥ 12

यह आतनाद सुनते ही युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन को उनकी रक्षाथ भेजते हैं, कहते हैं उन्हें शीघ्र छोड़ा कर लाओ। भाइयों को इस आदेश का औचित्य समझ में नहीं आता। उनके सामने भीम की कालकूट विष देकर मार डालने, लाशाग्रह दहन, द्रौपदी का वीर हरण के दृश्य दौड़ आत हैं। परंतु मानव-श्रेष्ठ धर्मराज नरोत्तम हैं। उनकी इष्ट मायता है, हमें अपने प्रति किये गये अत्याय का प्रतिकार स्वयं लेना उचित है, यह भीरुता ही नहीं नृशसता होगी

कि हमारे जीवित रहते हमारे माइयो और पुलवधुओ का अपमान और बध हो जाये, क्योंकि वे हम ही तो ह—'वय पचाधिक शतम्'—पाँच और सो मिलकर ही तो हम होते हैं। उनका आदेश गजन—'उत्तिष्ठत नगव्याघ्रा सज्जीमवत मा चिरम्'—गुनते ही अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव जाते हैं, तुमुल सधप होता है—'भूतुमुलयुद्धम्'—परंतु अन्ततोगत्वा पराक्रमी पाण्डव ग धवराज चैत्ररथ को परास्त करके दुर्योधन सहित सभी माइया और राज दाराओ को छुड़ा लेते हैं। और युधिष्ठिर उड़े गले लगाकर हस्तिनापुर निष्कण्ठक लोट जाने के लिए अनुरोध करते ह। युधिष्ठिर की दृष्टि में मानव अपने आप में साध्य है। मानवीय गौरव की रक्षा में ही मानव की गरिमा है। पर कौरवों की दृष्टि में मानव स्वाथपूर्ति का एक मात्र मात्र है।

इन दोनों जीवन दृष्टियों में आकाश पाताल का अंतर है या नहीं ? युधिष्ठिर की अस्मिता असूया की सीमाओं से बहुत परे समष्टि की अन्तमयी उदारता में पली होने के कारण सत्यधारिणी सामर्थ्य से अभिभूत है। परंतु दुर्योधन की अस्मिता असूया की सीमाओं में आवद्ध दृष्टि की सकीण विद्वेषता में पली होने के कारण विनाशकारिणी अहताजय भय छलवादी क्षुद्रता से सनी हुई है। युधिष्ठिर चाहता तो वह पराये हाथा दुर्योधन, दु शासन, शकुनि आदि सभी को मरने देता, परंतु वह मानववादी उदारता से ओतप्रोत न केवल स्वयं स्वतंत्र रहना पसंद करता है परंतु वह सबकी स्वतंत्रता के रक्षण वृद्धि का समर्थक है। चैत्ररथ गवधपति को भी उठाने में सम्मान विधा किया है। नरोत्तम जीवन के मूल्या और नराधम जीवन के मूल्या के बीच इतने बड़े अंतराल का स्पष्ट और सबस्वीकार्य उदाहरण अत्र कहा मिलेगा। यह वही दुर्योधन है जिसने शकुनि के छलबल से इन्हीं युधिष्ठिर को हराया था, उनका गरी सभा में असह्य अपमान किया था, द्रुपदसुता पाञ्चाली आ इन्द्रप्रस्थ की मन्त्राणों और कुरुकुल की अनिष्ट आर श्रेष्ठ बधू थी, उसे दिगम्बरा बनने, दासी के रूप में महल में रखने और सब प्रकार से लाञ्छित, कलकित आर अपमानित करने में कोई रुसर न उठा रखी थी, उसे युधिष्ठिर न, विद्वेष बमनस्य को गुना कर दुश्मन की बँद से तुरंत छुड़ाया और पुलवधुओं की मान मयादा का धर्मोचित रक्षण किया और अपने सहज स्वातंत्र्य प्रेम, समर्थ दशन तथा मानवीय सद्भाव का विलक्षण परिचय दिया। यह सब इसलिए हो सका कि धर्मराज की चेतना सामान्य साधारण चेतना का अतिप्रमण करने सर्वात्म्यभाव के उन्नत चैतन्य स्तर पर प्रतिष्ठित हो चुकी थी। उनको यह अटल धारणा थी कि मनुष्य दिन दिन जीवन और विविष्ट प्रमग के अन्तगत जा चिन्तन और जावरण करता है वही सब जीवन दशनों का मूलाधार है।

उन्होंने सदा यही सोचा कि कैसे स्वकीय जना को घम—मानवीय गौरव गरिमा तथा मानव स्वातन्त्र्य और समता का पोषक घम—की राह पर ले जाकर सुखानुभूति दें। तदर्थ ही वे क्षमा के तेजोमय पुत्र रहे, करुणा की प्राणवत् मूर्ति बन कर जिये, उनका घम इसी प्रेरणा का प्रकाश-पुत्र था।

तभी तो दुर्योधन इनकी क्षामाय उदारता से अछूता न रहा सका। जब गणध्वराज चैत्ररथ से छुड़ा कर युधिष्ठिर ने, यह जानकर भी कि दुर्योधन आदि सब पाण्डवों के घोर अनिष्ट की इच्छा से वहाँ आये थे, कौरवों का आदर सहित हस्तिनापुर प्रस्थान करने हेतु कहा, तब दुर्योधन का मानस सज्जनता से सुवासित हुए बिना न रह सका। जीवन-मूल्य की सधम स्थली बन गया उसका मन। जिस शत्रु समझ कर छल बल आदि में मार डालने की अनेक योजनाएँ बनायी, उसी युधिष्ठिर ने ही उसे राजदाराआ-सहित सकट से उबारा और उसके साथ अतुल मैत्री, अचिंत्य क्षमा और मानवोचित उदारता का व्यवहार किया— इस भाव से इतना विह्वल और द्रवीभूत हो गया दुर्योधन कि वह अपने आपको धिक्कारने लगा, और स्व दोषों के प्रति तनिय जागृत होकर अंतर्मुखी विचार द्वारा अपने पर ही कटाक्ष करने लगा कि 'मैं निश्चय ही मेरे दोषों के कारण भ्रष्ट हो गया हूँ— 'आत्म दोषात् परिभ्रष्ट' (वनपर्व 249 17)—अब मैं हस्तिनापुर जाकर भीष्म, द्रोण आदि पुण्यात्माओं से कैसे कुछ बोल पाऊँगा— 'कथं वदयामि तानहम्'। अब तो बस धरती फटे और मैं उसमें समा जाऊँ—'

यद्यपि दुर्योधन का यह निर्वेद हृदय की गहराई में से ही उठा था और उसकी आत्म ग्लानि का परिचायक था, परन्तु उसमें स्यायित्व का रस नहीं था क्योंकि शीघ्र उसके अन्त करण में कण के वाक्यों का पाण्डव-विरोधी प्रभाव पुन उदित हो गया जब उसने कहा 'मृतस्य भद्राणि कृत कौरवेय वतो जय' ओ, कौरव श्रेष्ठ! मेरे हुए को सुख कहा, जय कहा (वनपर्व 252 39)। दुर्योधन को ढाढस बघाते हुए कहा कि 'तुम एक महान् योद्धा, वीर और अच्छे शासक हो, शत्रुओं का दलन तुम्हारा क्षयित्व है, तुम्हारे जीत भी निश्चित है। अपने शास्त्रों को छूकर कण ने क्षय ग्रहण की और प्रतिज्ञा की कि मैं पाण्डवों पर विजय प्राप्त करके रहूँगा—'विजेष्यामि रणे पाण्डून्' (वनपर्व 252 41/2)।

युधिष्ठिर की मनुष्योद्धारिणी उदारता ने केवल दुर्योधन के अन्तस्को ही द्रवित नहीं किया (चाहे वह श्मशान वैराग्य ही सिद्ध हुआ), शकुनि जैसे छत्राधिप और पक्ष्य-प्रकारी के मन का भी निमलता के रस का आस्वादन करा दिया। वह तो इतना प्रभावित हुआ युधिष्ठिर की इस वाचनिक क्षमा से,—

जिसस दुयाघन को ग अबन्द से मुक्ति हो नहीं, पूरे दुःख रणवास का भी प्राण दान मिला था—द्रवीभूत होकर उसने दुर्योधन को प्रथम बार, सभवात अन्तिम बार, यह सलाह दी—

प्रसीद मा त्यजात्मान पुष्टञ्च सुकृत स्मर ।

प्रयच्छ राज्य पार्थाना यशो धममवाप्नुहि ॥

व प 251 8

‘प्रसन्न हा, दुर्योधन ! अपने प्राणा को त्यागन का भाव छोड़ द । सताप रग, शान्ति से पाण्डवा द्वारा किये गय उपकार (सुकृत) का स्मरण कर और उह उनका राज्य आदर पूर्वक लौटा दे । एसा करके यश और धम वा सहज अजन कर ।’ क्याकि इस राज्य म उनकी पतक सत्ता वा अधिकार है, वह उहे लौटा कर सुख का जीवन व्यतीत कर—‘पितृ राज्य प्रयच्छैषा तत मुखमवाप्स्यसि (वनपर्व 251 91/2) ।

परतु वण की उपयुक्त प्रतिज्ञा कि ‘हे राजन् ! म मली भांति जानता हूँ कि इस युद्ध मे तुम्हारी विजय अटल है, प्रतिज्ञा करता हूँ, अपने हाथ म आयुध लेकर कि मेरा यथन सबधा सत्य है’ दुर्योधन के निर्वेद पर पानी फेर देती है—

अनुजानीहि मा राजन् ध्रुवो हि विजयस्तव ।

प्रतिजानामि ते सत्य राजनायुधमालने ॥

व प 253 23

सग वा रग जम रिना नहीं रहता । युधिष्ठिर की प्रकट सज्जनता का सग अल्पकालीन ही था, इसलिए दुर्योधन आदि के मानस म उसकी छवि ज्यादा समय तक न टिक सकी, वण आदि के सग वा सातत्य दुर्योधन के निर्वेद का निमूल करने म शीघ्र प्रभावकारी सिद्ध हुआ । पर यह निर्विवाद सत्य है कि दुष्ट से दुष्ट प्रकृति वाल मनुष्य म भी सज्जनता और सदाचारी जीवन के मूल्या वा स्वागत समादर सम्भव है, उनका विकास भी सम्भावित है यदि उसके जीवन म धमावलम्बिया की आत्मीयता वा सतत साहचर्य उपलब्ध रहे ।

भीम और हनुमान के मिलन म भी इस सत्य की उक्ति का स्पष्ट प्रमाण है । जब जब भीम को दुर्योधन आदि पर गुस्सा आता था, तब तब युधिष्ठिर के धैर्य-बद्धक, सन्तोष प्रदायक और मानव धम-उद्घोषण वचन भीम वा बल और उत्साह को मगलमय जीवन प्रवाह म मोड़ देने वा काम करते थे । बाल्यावस्था म जब दुर्योधन न विष देकर भीम के वध का पडयत्र किया तब स एकर द्रोपदी पीरहरण म दुर्योधन और दुःशासन को दुःसह्य मिलज्जता और अपमानकारिता तक युधिष्ठिर के सतत प्रभाव सग मे रहने का कारण ही भीम वा पधपती हुई शोधाग्नि बार बार गा त हा जाती था । वनवास का म युधिष्ठिर

के इस सग-सातत्य का निमल प्रभाव भीमसेन की हनुमान के साथ मुतावात में सूर्योदय के समय खिलते हुए कमल की तरह स्पष्ट दिखाई देने लगा ।

एक दिन जत्र पाण्डव गंधमादन पवत शिखर पर चढ रहे थे तब बदरिकाश्रम के समीप पहुँचने पर भीषण बषा और वात प्रवाह के शात होते होते एक सहस्रदल वाला कमल द्रौपदी के पास आ गिरा । द्रौपदी के अनुरोध पर कि कैसे ही कमल पुष्प उसे चाहिए भीम उस दिशा की ओर तेजी से चल पडा जिधर से उडता हुआ वह एक पक्ष आया था । रास्ते में एक बडा सा बन्दर अपनी विशाल पूछ से माग अवरुद्ध किये सोये हुए था । वाद में पता चला कि वह महाकपि तो स्वयं हनुमान है और वायुपुत्र होने से भीम उनका छोटा भाई है । बनवास की पूब भूमिका आदि का सम्यक् बोध होने पर हनुमान ने भीम से कहा कि 'मैं तुमसे मिलकर अत्यन्त प्रसन्न हूँ, अगर तू कहे तो मैं सब कौरवा को मारकर, दुर्योधन को बन्दी बनाकर तुम्हारे चरणों में लाकर डाल दूँ—'बद्ध्वा दुर्योधन चाघ भावयामि तवातिवाम्' (बनपव (151 11))—तब भीम कहता है कि 'नही', आपकी प्रसन्नता ही मेरे लिए पर्याप्त है ।' युधिष्ठिर के हृदय की विशालता और निस्पृह मानसियता ने भीम के हृदय में भी तदनुकूल परिवर्तन का सहज सम्पादन कर दिया । इस से हनुमान अतीव प्रसन्न हुए और उन्होंने अपनी ओर से बर प्रदावाणी में कहा—

तदाह वहृषिष्यामि स्वरवेण रय तव ।

विजयस्य ध्वजस्थश्च नादान् मोक्ष्यामि दाक्षिणात् ॥

बप 151/17

अर्थात्, मैं अर्जुन के रथ की ध्वजा पर बैठूंगा और जब तुम अट्टहास करके क्षत्रुदल पर आक्रमण करोगे तो मैं तुम्हारे म्वर में अपना गजन मिलाकर ऐसा भयावह हुंकार करुंगा जो क्षत्रुओं के प्राण हरण करने वाली होगी, जिसमें उनकी हार और तुम्हारी विजय निश्चय ही होगी ।

इस वथानक से स्पष्ट है कि पाण्डव मनोजयी अन्तर्गता के पथ पर आरुढ भं और जीवन मूल्यों का सधप उत्तरोत्तर उच्चतम मनोभूमियों की पार करता हुआ समष्टिगत आत्मोपत्ता के अन्त के स्पर्शाथ गतिशील था ।

भीम ही बषा, अर्जुन की इन्द्रलोक की यात्रा भी इस सधप की उद्दामता और चरमता का शीता करने वाली यात्रा है । धीरे तपश्चर्या की तामयता के क्षण में परात्पर शिव पशुपति की प्रसन्नता से पशुपत आदि दिव्यास्त्रों के प्राप्त परो के पश्चात् इन्द्र के निमन्त्रण पर अर्जुन इन्द्रलोक गमन करत है, वहाँ के संगीता और तलाममङ्गों में नृत्य, वाद्यकला, गायन कला आदि का दिव्य एव उत्कृष्ट गान प्राप्त करते हैं देवताओं में दिव्यास्त्र और अद्भुत यन्त्र प्राप्त

विद्या में परिशिक्षित और पारगत हो जाते हैं और अततागत्वा इन्द्र के परोक्षादेशानुसार इन्द्रलोक की अतुल सुंदरी अप्सरा उवशी जब अर्जुन के गायनवक्ष में रात्रि में प्रवेश करती है, तब अर्जुन के वाग्मयम और सदाचार की अनपेक्षित विद्यमानता से उसके विकसित और विवासो भुगी जीवन मूल्यों के सघष का परिपाक हमारे समाने आता है। उवशी अपने दिव्य सौंदर्य और यौवन के उमाद में अर्जुन के मनोरञ्जनाथ और तृप्त्यथ अपनी कामवला मयता का प्रदर्शन करती है परंतु अर्जुन के हृदय में उसके प्रति शिशुत्व जाग उठता है और वह उवशी में माता कुंती और माद्री के भव्य भाव रूप से दर्शन करता है। जैसे शिशु, गुरुजनो और मातृदेवी का, प्रेमपूरित भाव विभोरता से अभिनन्दन अभिवादन करता है, वैसे ही अर्जुन का उवशी के प्रति निमल व्यवहार होता है—‘तदभिवादनं कृत्वा गुरुपूजा प्रयुक्तवान्’ (वनपर्व, 45 9)। उसने असदिग्ध और स्पष्ट शब्दों में भादरपूवक कहा—

गुरुदारं समाना मे निश्चयेन धरानने ।
यथा कुंती च माद्री च शची चैव ममानये ।
त्वं हि मातृवत्पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत् त्वया ॥
य प 45 47

इन शब्दों को सुनकर स्तब्ध और दग सी रह गई उवशी, परंतु वह शीघ्र बोल पड़ी, ‘पाथ ! ऐसे सम्बोधन से मुझे लज्जित न करो। अप्सरा बनी माता और बहन नहीं बनती। मैं तुम्हारी कामना करक ही यहाँ आई हूँ।’ अर्जुन ने मन्द स्वर में दोहराया, ‘माता आपकी यह कामना सफल नहीं हो सकती। आप हमारे वक्ष की माता हैं और देवराज इन्द्र की अप्सरा। इन्द्र मेरे गुरु हैं, मुझे पर आपकी कृपाश्रुति बनी रहे।’ उवशी की समस्त चेष्टाओं के विकल हा जाने पर उवशी आश्रय से भर गई और उमन घनञ्जय को शाप दिया—‘शशापाथ घनञ्जयम्’—कि ‘तुम एक वष तक पृथ्वी पर निर्वाण रहोगे, यह मैं कामिनी रूप से कह रही हूँ, पर चूँकि तुमने मुझे माता कहा है, यह शाप तुम्हारे लिए वरदान सिद्ध होगा।’ उवशी यह कह कर चली गई। देवराज इन्द्र आये और सब कुछ जानकर उहोने अर्जुन से कहा—‘हे, अनप ! तुम्हें भूतल पर तेरहवें वष में अज्ञातवास करना है। वीर ! उवशी के दिये हुए शाप को तुम उसी वष पूरा कर लोगे। नतक वेश और नपुंसक भाव से एक वष तक इच्छानुसार विचरण करके तुम फिर अपना पुंसत्व प्राप्त कर लोगे।

तेन नतन वेपेण अपुस्त्वेन तयैव च ।
वपमेव विहृत्यैव तत पम्वमवाप्स्यसि ॥
वनपर्व 45 59

अर्जुन सहर्ष लौट आता है इन्द्रतोक से राघव वताओ और देवविद्याओ मे गिष्णात होकर, परंतु आता है, उवशी के शाप से ग्रसित होकर भी ! उर्वशी के प्रति अर्जुन के उदात्त व्यवहार म युधिष्ठिर के आदर्श जीवन को अमिट छाप अवित है। श्रेष्ठ जीवा के मूल्या की विरसित भूमि मे यहाँ जिस आदश भूमिका का निर्वाह अर्जुन ने किया है, वह धर्मराज युधिष्ठिर के प्रभाव और गौरव का परिचायक है। निस्त देह, अर्जुन, मनोजयी की दृष्टि से, युधिष्ठिर के आदश के सन्निकट है। उन्नत चेतना की दृष्टि से यागेश्वर और धर्मराज को छोड़कर अर्जुन का कोई साम्य नहीं। जीवन मूल्या के सघष मे अर्जुन तेजोमय और तीव्रारोही नायक है। यद्यपि वह आद्योपात्त धनुषरूप से ही प्रख्यात है, परन्तु नर जगत् का अत्युच्च कोटि का प्रतिनिधि होने से वह मानवीय गुणा, मानव स्वातंत्र्य और हृदय की पावन सरलता का प्रदीप्त पुञ्ज भी है। वस्तुतः यह युधिष्ठिर की वेदव्यासजी से प्राप्त, अमूल्य प्रतिस्मृतिविद्या का ही प्रताप था, जिसे स्वयं अर्जुन ने अपने ज्येष्ठ भ्राता से प्राप्त किया, कि अर्जुन इन्द्र समा मे रह कर भी अपने लक्ष्य से न विस्मृत हुआ, रच्युत !

अज्ञातवास के तेरहवें वष म पाँचो पाण्डव भाइयो और द्रौपदी ने जिस वीशल और कोमलता से विराट नगर म मत्स्यराज की समा मे परिचर्या की भूमिका निभाई, उससे स्पष्ट है कि मानव जीवन के मूल्यो का सघष मानो अपनी सफलता के शिखर पर विजय पताका फहरा रहा हो। किसी को भी अत तक पता न पड सका कि विराटराज के साथ ब्राह्मण वेप मे रहने और जूआ खेल कर उन्हें विनोदमय रखन वाला कङ्क नहीं स्वयं महाराज युधिष्ठिर थे कि विराट की महारानी के महल मे सेविका के रूप मे काम करने वाली श्यामल सुंदरी सैरित्री नहीं कुरूकुलवधू इन्द्रप्रस्थ की सम्राणी द्रौपदी थी जो अपने पाँचो पतियो सहित अज्ञातवास भुगत रही थी, कि वल्लभ नाम का रसोईया जो विराटराज की भोजन समा मे साल भर नियुक्त रहा वह महापराक्रमी भीम था और उसी ने गधव बन कर मत्स्यराज के महासेनाध्यक्ष कीचक का घुपचाप वष किया था, कि वृहन्नला नामक नपुसक हिंजडा जिसने विराटराज की पुत्री उत्तरा और अय कुलाङ्गनाओ को सङ्गीत, वाद्य एव नृत्य कला की अद्भुत शिक्षा दी, तथा जिसन राजकुमार उत्तर का सारथित्व स्वीकार कर समस्त वीर्य सेना को, जो महारथियो और अतिरथियो—भीष्म पितामह द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा महावीर कण, दुर्योधन आदि— द्वारा अनिरक्षित थी, अकेले ही परास्त कर न केवल विराटराज के गो घन को अपहरण से मुक्त कराया परंतु मत्स्यराज के गौरव-स्वातंत्र्य को अक्षुण्ण रखा और यथास्वी बनाया, वह और कोई नहीं मत्स्यधनुषर गाण्डीवधारो वीर अर्जुन था, कि गौओ

धीर अश्या की रतवाली करी वाले प्रियव आर तन्त्रीपात वस्तुत नमुत और सहदेन ही थे ।

राष्ट्र है घम की रक्षा करने मे ही सच्ची वीरता है, और समझौता करने मे भीरुता । अघम, अयाय और पाशविा अमानुषीय प्रहारा से घर्म की रक्षाथ राजजा, घमशा और पराक्रमी पुण्या का आश्रामव मुद्रा धारणी ही पढती है, युद्ध यदि अनिवाय हो जाये तो डट कर सघपरत होना पढता है, और यदि छलवेप धारण करना पडे तो वह भी नि सकाच पूर्णवतात्मवता से करना ही चाहिए । पाण्डवा वा अनातवास और उस काल म घटित भीषण युद्ध इसी मूल सत्य वा प्रत्यक्ष उदाहरण है कि जब मानवता खतरे म हो, धार्मिकता को अ याय और विघमियो के युवर्मों की प्रचण्ड आंच लगती हो, और मनुष्य जीवन की गारव गरिमा और स्वतन्त्रता सकटापन्न हो जाय ता घम प्राण मनुष्या वा यह पावन दायित्व हो जाता है कि व अपनी सामध्य और शक्ति को सुष्ट नेतृत्व मे बटोर कर याय, मानवीयता और स्वतन्त्रता के रक्षणार्थ अपनी पूरी शक्ति खपा दे । पाण्डवो ने ऐसा ही किया जब छूत शीडा की गत के अनुसार तेरह वर्षों के अज्ञातवाम सहित वनवास भुगतने के बाद युधिष्ठिर ने इन्द्रप्रस्थ वा अपना पैतक राज्य मागा और दुर्योधन ने वह दने से इकार कर दिया ।

दुर्योधन को गव था कि उसके पास अथाह शक्ति है, इतना ही नहीं वह श्रीकृष्ण से उनकी सारी नारायणी सेना भी माग कर ले आया था । अत वह अपने को अजेय समथता था । छलपूण परतु भव्य स्वागत की सामग्री से उसने पाण्डवा के मामा माद्री के भाई राजा शल्य को भी अपनी तरफ कर लिया था । दुर्योधन युद्ध के लिए तैयार था, वह पाण्डवो को उनका राज्याधिकार नहीं देगा, वे कुछ भी करें । तृतराष्ट्र के दूत सजय को युधिष्ठिर ने बडे आदरपूर्वक कहा— अब भी सब कुछ पहले के समान हो सरता है । जसा तुम कह रहे हो मैं शांति धारण कर लूंगा, परतु भरतवश शिरोमणि सुयोधन मेरा राज्य लौटा दे, इन्द्रप्रस्थ पूर्ववत् मेरे पास रहे’—

अचापि तन् तत्र तथैव त्रतता, शांति गमित्यामि यथा त्वमात्य ।

इन्द्रप्रस्थे भवतु ममैव राज्य सुयोधना यच्छतु भारताग्रय ॥

उद्योगपथ 26 29

इस पर सजय ने बडी अटपटी, अस्वीक्याय और अयायोचित बात कही, और वह भी घम के आलोच की ओट मे—

न चेद् भाग कुरवोऽयत्र युद्धात्

प्रपञ्चारस्तुभ्यमजात शत्रो ।

मैक्षचर्वामघ्न वृष्णिराज्ये

श्रेयो मये न तु युद्धेन राज्यम् ॥

उद्योगपथ 27 2

सर्पाय, हे अजातशत्रु ! यदि कौरव तुम्हें राज्य का कुछ भी भाग दें, तो तुम्हारे लिए यहो श्रेष्ठ और सराहनीय है कि तुम अचक और दृष्टि राज्य में निष्ठा माता कर ही जीवन्तपापन करो ! इसी में तुम्हारा बलवान है कि तुम युद्ध न करो, ऐसी मेरी मायता है ।

संधियों के दौर में, शांतिप्रिय धर्मराज युधिष्ठिर ने अततो गत्वा यहाँ ता कह दिया कि 'हे गजय । तुम महाप्राण हो । ऐसा करो कि सुयोधन हम पाँच भाइयों को सम्मान जीवन्त पाँच गाँव तो दद । हम तो इसमें भी शांति धारण कर सेंगे—

भातृणां देहि पञ्चानां पञ्च ग्रामान् सुयोधन ।

शांतिर्नोऽस्तु महाप्राण शांतिं सह सजय ॥

उद्योगपत्र 31 20

दुर्योधन को यह प्रस्ताव भी स्वीकार्य नहीं था । अतः युद्ध की अवश्यम्भा वित्त को जानकर श्रीकृष्ण भी द्वारिकापुरी में आ गये । उह पता चलता कि राजा द्रुपद ने संधि का प्रस्ताव लेकर अपना पुरोहित हस्तिनापुर भेजा था, किन्तु दुर्योधन ने कौरव को कहला भेजा कि राज्य का गाँव की बात तो दूर है, मुझे तो गाँव के बराबर भी जमीन देणे के लिए यह तैयार नहीं है—

यावद्धि तीक्ष्णया मृगया विध्वेदप्रेण कौरव

तावदप्यपरित्याज भूमेन पाण्डवान् प्रति

उद्योगपत्र 127 25

इस पर युधिष्ठिर ने पुनः श्रीकृष्ण, पाण्डुचाल नरेश, मत्स्यराज और अन्य अनेक समागत नपतियों के साथ विचार विमर्श किया । श्रीकृष्ण इस बार स्वयं शांतिदूत के रूप में दुर्योधन की समा में गये । हस्तिनापुर में संधि प्रस्तावता की लहर दाल गयी कि कृष्ण शांति का प्रस्ताव स्वयं लेकर आये हैं । प्रथम दिन वे विदुर के घर रह, और दूसरे दिन कौरवों की समा में उपस्थित हुए । कौरव समा में आये हुए कई राजाओं को यह जानकर विस्मय हुआ कि दुर्योधन शांति के पक्ष में नहीं है, यह पाण्डवों के सन्तान का इच्छुन है, यहाँ तक कि उसी कृष्ण को बाँध कर बँद कर डालने तक का निणय कर लिया है । 'जैस इन्द्र ने वृषि को बलात् चढ़ी बना लिया था, वैसे हम भी हृषिकेश कृष्ण का बँद कर लें'—

यथमव हृषिकेश निगृह्णीम वलादिव ।

प्रमह्य पुरुषश्याममिन्द्रो वरोचनि यथा ॥

उद्योगपत्र 130 5

जब कृष्ण कौरव समा में पहुँचे तो उन्हें उत्तम आगन पर मिटाया गया ।

वहाँ पितामह भीष्म, धृतराष्ट्र, कण, द्रोण, कृपाचार्य, शकुनि, दुःशासन, अश्वत्थामा आदि वीरव पक्ष के सभी योद्धा सिंहासनस्थ थे। कृष्ण ने समा को सम्बोधित करते हुए कहा—

‘वीरव और पाण्डव दोनों एक ही कुल में पदा हुए हैं। दोनों ही हमारे मित्र हैं। जरा-सी बात के लिए युद्ध करना हितकर नहीं होता। इससे क्षत्रियो का नाम ही जायेगा और देश से धर्म और सत्य का भी लोप हो जायेगा। यह युद्ध किसी प्रकार उचित नहीं है। पाण्डवों का कोई दोष भी नहीं, उन्हें छल से जुए में हराया गया। दुर्योधन की ओर से शकुनि का जुआ खेलना भी अय्यायपूर्ण था। फिर भी जुए में हारने पर पाण्डवों ने वनवास तथा अज्ञातवास का कठोर कष्ट सहा। महारानी द्रौपदी का अपमान हम सभी के लिए अपमान की बात थी। पर पाण्डवों ने कभी भी वीरवों का अहित नहीं किया। यहाँ तक कि चित्ररथ ने जब दुर्योधनानादि समेत वीरव कुलाङ्गनाओं को बाध लिया था तो पाण्डवों ने उन्हें मुक्त कराया। इसी प्रकार वीरवों ने विराट के ऊपर आक्रमण करके पाण्डवों को सतान का घोर उपक्रम किया। इतने कष्ट सहने के उपरान्त भी युधिष्ठिर केवल आधा राज्य लेकर ही शांतिपूवक रहना चाहते हैं।’ सम्भाषण के उपसंहार के रूप में कृष्ण ने कहा, ‘कुरुओं और पाण्डवों में वीरों का नाश हुए बिना शांति हो जाये, मैं यही प्रार्थना करने आया हूँ—

कुरुणा पाण्डवाना च शम स्यादिति भारत ।

अप्रणाशेन वीराणामेतद्याचितुमागत ॥

कृष्ण के वक्तव्य की सत्यता का सारी समा में स्वागत हुआ, पर दुर्योधन की द्रोघानि घटक उठी और वह कृष्ण को बँद कर लेने का आदेश देने लगा। दुःशासन उन्हें बँदी बनाने हेतु आगे बढ़ा परंतु भीष्म की प्रताडना से वह सहम गया। धृतराष्ट्र ने दुर्योधन के सामने अपनी विवशता ही प्रकट की, यद्यपि उसने कृष्ण के सधि प्रस्ताव को बहुत उचित ठहराया था—‘शमे शर्म भवेत्तात’ शांति में ही सब का बल्याण है—(उप 124 19) पर दुर्योधन ने तो सधि प्रस्ताव को यह कह कर ठुकरा दिया कि राज्य का पूरा अधिकार केवल दुर्योधन का ही है, युधिष्ठिर का नहीं। पाण्डवों की यह अनधिकार चेष्टा है कि वे मुझसे आधा राज्य माग रहे हैं। यह सब कुटिल कृष्ण की चाल है। मैं यह कभी नहीं होने दूँगा।

कृष्ण वीरव समा से लौट आये। शांति प्रस्ताव मग हो गये। युद्ध की विपमता अपरिहाय हो गई। कुंती अपने पुत्र कण से मिली। राधेयपुत्र ने यह

जानकर भी कि वह सूय द्वारा प्राप्त कौतेय ही है, दुर्योधन के पक्ष से लड़ने का निश्चय अटल रखा, परंतु उसने यह प्रतिज्ञा अवश्य की कुन्ती के पाँच पुत्र अवश्य जीवित रहेंगे—अर्जुन सहित या फिर कृष्ण सहित ।

कौरवों की ग्यारह अशोहिणी सेना के महासेनाध्यक्ष भीष्मपितामह को और पाण्डवों की सात अशोहिणी सेना का नेतृत्व सूत्र द्रुपदपुत्र दृष्टद्युम्न ने सम्भाला । कृष्ण का दम्भ इस समय अपन पूरा ज्वार पर था । उसने प्रतिज्ञावद्ध घोषणा की कि जत्र तत्र कौरव सेना का संचालन सूत्र, महासेनाध्यक्ष पद से, भीष्म करेंगे तब तक वह अपने हाथों में युद्धाद्य दस्त्र नहीं उठायेगा । परन्तु अर्जुन ने एक वीर योद्धा और सेनानी की भाँति दृष्टद्युम्न के सेनापतित्व में पुरजोर लड़ने में कोई आपत्ति नहीं उठाई ।

युद्ध की अनिवायता से अवगत होते ही महर्षि व्यास घृतराष्ट्र के पास दौड़े आये । उनका सारा समझाना व्यर्थ हुआ । आसुरी रोष, अमानुषीय स्वभाव और सत्ता का मद जब विवेक की सारी सीमाओं का उल्लंघन कर लेता है और स्वेच्छारी निरकुशला अपने विचराल यौवन के पूरा उमार पर होती है तो मनुष्य यह कहे बिना नहीं रहता—

धर्मोमयाहत शत्रुहनिष्ये चापरानपि ।

ईश्वरोऽहमहं भागी सिद्धोऽहं बलवान्मुली ॥

आद्योऽभिजनवानस्मि कोऽयोऽस्ति सहोमया ।

दुर्योधन के मानस पर यह दप छाया हुआ था । व्यास ने स्वज्ञानचक्षु से बाल की महिमा का पयवलोचन किया । बाल की दुष्प सत्ता का इस महाकाव्य में उहोने कई स्थलों पर चिह्न किया है । काल सब की जड़ है, उत्थान, पतन, त्रिवास, विनाश आदि का घटनाचक्र इसी में प्रवर्तित होता रहता है । अतः स्थिति की दारुण अवस्था को समझ कर, धर्म की वात को न मनवा सकने पर, घृतराष्ट्र की विवशता (मोहजय) और दुर्योधन की मानव स्वातन्त्र्य और न्यायविरोधी कट्टरता (धर्मजय) को युद्ध की अवश्यम्भावी एव कारण भूता भूमिका मान कर, अपने मन की निश्चलता को बिना छोड़े व्यास अपने आश्रम को लौट गये । युद्ध के समय में वे बार बार आते थे, युद्ध की विनाशकारी परिसमाप्ति के समय में फिर आये, शोक सतप्त मुषिष्ठिर को धर्मोचित मानवीय सातोष बुद्धि और सान्त्वना प्रदान की । परंतु यह इतिहास की विडम्बना रही कि व्यास को सन्तान व्यास ही के सामने विनाशग्रस्त हो गई और वे ब्रह्मज्ञानी, त्रिकालेश और दिव्यसत्ता से विभूषित होते हुए भी युद्ध को टाल न सके, दुर्योधन आदि को न्याय पथ पर ला न सके ।

सामान्यतः मनुष्य इतना स्वार्थी, स्व चिन्तित और स्व चिन्तन और

व्यवहार को ही सही और श्रेष्ठतम मानने वाला होता है कि वह स्वयं को ईश्वर तुल्य और स्व नियम का ही अंतिम गाय घोषित करता है। इतना ही नहीं, यदि वह राजकीय सत्ता से विभूषित हो तो वह न तो सत्पुरुषों की मानवोचित विचारधारा को मान्यता प्रदान करता है, और न ही वह अपने अर्धोपाजन और कामतृप्ति के सामने किसी माननीय आदर्श या स्वतंत्र मानव जीवन के उन्नत मूल्यों की परवाह करता है। दुर्योधन ने ऐसा ही किया। अतः दुर्योधन और उसके साथिया और समर्थकों का काव्यगत कथानक सत्ता के घोर दुरुपयोग, मानवीय श्रेष्ठता और उत्तम जीवन के मूल्यों पर अनकविष अमानुषीय प्रहार, धर्म और गाय की ओट में सत्य और स्वतंत्रता का निरंतर अग्रमूल्यन और पाण्डवों के अनुचित विनाश पर अपने सुग और सत्ता के नशस विस्तार का वह कथानक है जिसकी परिणति महाविध्वंसकारी महाभारत युद्ध में हुई जिसमें न तो जय की भोगों का उत्साह शेष रहा और न ही पराजय पर रदन करने वाला, घतराष्ट्र के अतिरिक्त, कोई मानव हृदय जीवित बचा। सब कुछ बर्बाद हो गया।

अततो गत्वा, महाभारत की काव्यकथा को पूरा विराम देने के पूर्व महर्षि वेद-यास की करुणा उन महाप्राज्ञ के समाधि सुमेरु से विगलित होकर निम्नोक्त विश्व-विरयात श्लोक में प्रवाहमान होती हुई आज भी मानव मात्र को पूरा स्वातंत्र्य, पर्याप्त ऐश्वर्य स्वच्छ कामोपभोग, सामाजिक पद प्रतिष्ठा, कलात्मक जीवन और वैश्विक व्यक्तित्व के विकास हेतु धर्मावलम्बना का अमर सन्देश दे रही है—

ऊर्ध्वबाहु विरोम्येप न च कश्चिच्छृणाति मे ।

धर्मादथश्चवामश्च स किमथ न सेव्यत ॥

स्वर्गरोहणपत्र 562

पूरे महाभारत में धर्म का ऐसा मूल्यवान् सन्देश कि धर्म ही मानव जीवन के चरम एवं सर्वाङ्गीण विकास का मूल है, समूचे विश्व का नियामक तत्त्व है और वह मानव द्वारा चाहने पर, धीर वीरता द्वारा जीवन में चरित्राथक क्रियावित किया जा सकता है—केवल एक ही व्यक्ति बार बार देता है, और वह है महर्षि वेद-यास, इस मूल्यवान् सन्देश को समूचे महाकाव्य में सम्यक् रूप से धारण करने वाले व्यक्ति पाण्डव और विदुर ही हैं, विदुर समय समय पर घतराष्ट्र को नीति और मर्यादा की बात कहते हैं पर वे बातें अग्नि से तपे तपे पर जल विदुआ की भाँति छू होकर रह जाती हैं। साथ ही धर्म की ग्लानि हैं। पाँचों पाण्डव वस्तुतः धर्मप्रिय जीवन जीना पसन्द करते हैं, इसीलिए श्रीकृष्ण धर्म के पुनरोदय के लिए, जन जीवत और राज्य प्रशासन में धर्म की

पुन प्रतिष्ठा के लिए धर्मशील युधिष्ठिर आर धर्मानुरागी उनके प्रातागणा का, कौरवों द्वारा प्रवर्तित अधम के कुचक्र का सर्वो मूलन हेतु, साथ देते हैं। वसवध के बाद कृष्ण वंस के शशुर जरासंध का वध भीम के द्वारा करवाते हैं क्योंकि भीम की विजय और प्रतिष्ठा में धर्म, धाय और स्वतंत्रता की अधम, अधाय और स्वाधीनता हनी सत्तावादिता पर स्थायी विजय और स्वच्छ प्रतिष्ठा है। यह सब महत्त काय बिना युद्ध, बिना जन हिंसा और बिना भीषण रक्तपात के कृष्ण सम्पूर्ण कर लेते हैं क्योंकि वे स्वयं धर्ममूर्ति हैं। वस और जरासंध की सत्ता का उन्मूलन, जैसा कि पूर्व पृष्ठों में विवेचित है, मथुरा-मगध की अधिनायकवादी, अमानवीय और अधायपूर्ण प्रशासन तंत्र की घुरी का मानवीचित विध्वंस था। युधिष्ठिर की धर्मध्वजारोहिणी राजसूय यज्ञाथ समवेत अनेक राजाओं की पाण्डव समा में शिशुपाल का वध उसी तंत्र को ध्वस्त करने वाला प्रान्तिवारी तीसरा शूद्रम सिद्ध हुआ। दुर्योधनाधीन कौरव सत्ता का अधिनायकवादी केंद्र हस्तिनापुर यद्यपि अन्न अवेला था, पर उसके रक्षण पोषण में सत्कारीन प्रसिद्ध बड़ी बड़ी हस्तिना भी लगी हुई थी—पितामह भीष्म जो अनेक दृष्टियों से महाभारत के आदर्श पात्रों में गण्य है, द्रोणाचार्य जो धनुर्विद्या में परशुराम के समवक्ष कीर्तिमान् हैं, ब्रह्मास्त्र प्रयोग में एक मात्र प्रवीण जो कौरव-पक्षी द्रोणपुत्र अपवत्यामा हैं, सूयपुत्र कीर्त्य भण जिसने दुर्योधन को जीवनपर्यंत साथ देने और पाण्डवों का परास्त और कौरवों का विजयी बनाने की कौरव दल प्रोत्साहिनी घोषणा की है, तथा कृपाचार्य, विक्रम, समितिजय, सौमदत्ति आदि अनेक अतिरथी और महारथी एवं युद्ध विशारद राजे महाराजे दुर्योधन के पक्ष में अपनी-अपनी सैन्यशक्ति के साथ युद्धाय कटिबद्ध थे। कृष्ण के समस्त शान्ति समकक्षीय प्रस्तावों के दुर्योधन द्वारा निममता से ठुकरा लिये जाने के पश्चात् जब उस अनिवाय कौरव-पाण्डव भीषण महायुद्ध की प्रलय पारिणी अग्नि में दाना पक्षों में से मात्र दस धीर पुरुष ही जीवित बच रहे तो जिस घोरताप और दुःखानल में धृतराष्ट्र का हृदय चीन्वार कर जन उठा, उसी भयकर आर अचिन्त्य पश्चाताप और विराणा के अग्निकुण्ड में पाण्डव-श्रेष्ठ धर्मराज भी जल भुन कर प्रबल निर्वेद की अवस्था में लुप्त गये। इसी वेदान्तमय वैराग्यानल के साम्य में युधिष्ठिर के चरित्र की उज्ज्वल धर्ममयता स्पष्टतया प्रकट होती है।

एक विजयी समाप्त भी उसी गहन निर्वेद और पश्चाताप की अंत जग्नि से दग्ध है, जिससे परागित और मृत कौरवों के पिता भी विदग्ध हैं। इस एक विशेष दृष्टि में युधिष्ठिर इस महाव्याय की महान् दुःखांत नायकात्मा हैं, जिसे अनन्त भीषण युद्ध में दुश्मनों का मारण का उज्ज्वल धर्ममयता

बरना पडता है, आर वडे भारी आर अनिच्छा से बोझिल पावो वा हस्तिनापुर के राज्यसिंहासन पर खीच कर ले जाना पडता है। विजेता के हृदय की यही सहज गहरी दु खानुभूति जो युद्ध मे मरे आर हारे हुए वीरवा के प्रति सच्चे विलाप म प्रवाहयुक्त होती है उसे दु खात शाही शोभा से अनुवेष्टित करती है, आर इम महाकाव्य के नायक की मानवोन्मायकी घमप्रियता, स्वतन्त्र विवेक-शीलता आर मानव मात्र की गरिमा के प्रति नैसर्गिक आदर बुद्धि वा साक्षात्कार कराती है। वनवास काल म जब भीम आर द्रौपदी भी युधिष्ठिर के जीवन दशन आर मृत्या पर बटु व्यग आर दु सह्य कटाक्ष करते है, तब भी वे अविचल भाव से श्रेष्ठ मानवोचित विचार आर व्यवहार के आचरणार्थ ही निमल वचन कहते हं। भीम तो विप्लवी रोप मे उह यहाँ तक कह उठता है कि उनका दशन तो वस्तुत एव नपुंसक का दशन है, सक्ट के समय क्षान्त अनुवर्ता मात्र भीहता का लक्षण है, परमवीर योद्धा को तो यही शोभा देता है कि वह अयाय आर आतक, अमानवता आर अपराध वा प्राणप्रण से घोर विरोध करता हुआ, आवश्यकता पडने पर, प्राणा का उत्सग कर दे। द्रौपदी भी कठोर वनवासी जीवन को, जो पाण्डवो की दुबलता के कारण उन पर बलात् थोपा गया है, बार बार कोसती है, अपने दुर्भाग्य पर विलाप करती हुई रोप आर निराशा भरे शब्दा मे युधिष्ठिर को दोषी ठहराती है। पुरुषपापहीन मनुष्य देव के हाथ की कठपुतलियाँ हैं, विधि उह ठीक उसी तरह थपेडे मारती हुई घसीटती है जैसे सरिता की वेगमयी धारा वृक्ष को ढकेलती रहती है। पर तु युधिष्ठिर की निश्चल प्रज्ञा मे कोई तूफानी प्रतिश्रिया नही होती। भीम की व सदाचार, नीति आर युद्ध की मर्यादाआ सम्ब धी उपदेग करते है आर द्रौपदी को वे नियति के विधान की अटल महानता वा रहस्य समजाते है आर उससे वे सानुनय अनुरोध करते है कि विश्व की अचूक व्यवस्था के अस्तित्व मे वह अपना सही विश्वास आर श्रद्धा रखे। युधिष्ठिर की यह अडिग धारणा है कि जब तक मानव के अ त करण मे करुणा, गाति आर पवित्रता का अम्मुदय नही होता तब तक विश्व के विधान वा बोध सम्भव नही है, कि विश्व उस समय तक प्रगति नही कर सकता जब तक मनुष्य शठ वा प्रतिकार शठता स करता रहेगा, छल आर हिंसा के प्रत्युत्तर म छल आर हिंसा का ही व्यवहार करेगा। युधिष्ठिर वा जीवन गाति, सहिष्णुता, मानवीय करुणा आर स्वतन्त्र चिंतन वा मूक आर मुखरित स देश है। वस्तुत युधिष्ठिर की वाणी आर व्यक्तित्व म महाभारत के महान मानवीय सदेश को उस समय सशक्त अभि-यक्ति मिलती है जब यक्ष के मार्मिक वीर रहस्यसचिंत प्रश्ना की चुनौति स्वय उनके आर उनके रोप पाण्डव भाइयो के जीवन मरण की परीक्षापूण वसाटी बन जाती है,

और युधिष्ठिर के अतः वरण में पहले में चल रहे और इस घटना से त्वरित जीवन मूल्यों का सघप अपनी चरम सीमा को स्पष्ट कर रहा होना है। जिस कला ममज्ञता व कीशल से वे व्यास ने अपने इस महाकाव्य के प्रत्येक पर्वारम्भी मण्डलाचरण पत्र, नरोत्तम, नारायण, व्यास और सरस्वती के अद्भुत तादात्म्य को सवार कर मानव के स्वरूप का दिव्य, मानवीय और परिपूर्ण निवारण किया है, उसी रचना चातुर्य और प्रज्ञा पटुता से उन्होंने यथा युधिष्ठिर सवाद के अत्यन्त रोचक, प्रेरक और शिक्षाभूलक माध्यम द्वारा मानव जगत् में जीवन मूल्यों के सघप का अतिशय भावीय और सर्वोपकारी चित्र प्रस्तुत किया है।

वनवास काल की बात है बारह वर्ष समाप्ति पर हैं, तेरहवें वर्ष के अज्ञातवास की चिन्ता में मग्न एक दिन युधिष्ठिर जगृह्ण सहित सभी भाइयों के साथ तस्मैवधी विचार विमश कर रहे थे कि उनके सामने एक रोता हुआ ब्राह्मण आ खड़ा हुआ। रत्न का वारण पूछने पर उसने बताया कि एक हरिण अपने सीम में अटक जाने के कारण, ब्राह्मण की अरणी लेकर जंगल की ओर भाग गया है और उस अरणी के बिना वह अग्नि होय के लिए अग्नि कैसे प्रज्वलित करेगा। उसका नित्य नियम भंग हो जायेगा। कृपावश पाण्डवों ने हरिण का पीछा किया, वह हाथ न आया, धनी झाड़ियाँ में दिग्गते दिखते एकदम ओझल हो गया। सभी भाई एक बड़े छायादार बरगद वृक्ष की शीतल छाया में बैठकर ग्लानि और सज्जा की अनुभूति करने लगे कि वे एक ब्राह्मण का इतना छोटा सा काय भी पूरा न कर सकें। यवान और प्यास ने उस ग्लानि को और तीव्रतर कर दिया। वे कुछ और आग बढे, उन्हें कुछ ही दूर स्थित एक सरोवर के दशन हुए। वही सब बैठ गये। नकुल जलाशय में से पानी लेने गया। ज्योंही वह सरोवर में उतरा एक आवाज न उसे ललकारा— 'ओ, माद्रीनन्दन ! दुस्साहस न करा। यह सरोवर मेरे अधीन है। पहले मेरे प्रश्न का उत्तर दो, फिर पानी पीओ।' बैठ सूख रहा था, प्रश्नों को सुनते और उत्तर देने का समय वहाँ था। उसने पानी पी लिया, पीत ही डेर हो गया। नकुल न लौटा तो युधिष्ठिर ने सहदेव को भेजा। फिर वही चुनौति, फिर वही अवज्ञा, फिर वही परिणाम। अजुन आये, भीम आये, और उनकी भी वही दुर्गति हुई, सभी निष्प्राण सरावर के तट पर मर कर गिर गये। अब युधिष्ठिर की वारी थी। ज्योंही उन्होंने जल पीने हेतु तृपापूर्ति मुद्रा धारण की कि जलाशय में से आवाज आई— 'सावधान ! तुम्हारे भाइयों ने मेरी बात न मान कर पानी पिया था। परिणाम देख लो। यह तडाग मेरे अधीन है। मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, फिर पानी पीकर तृपा शान्त करो और पानी ले भी जाओ।'।

मा तात साह्य कार्पोमम पूव परिग्रह ।

प्रदानानुत्वा तु योतेय तत पिव हरस्वच ॥

आरण्यगव 313 30

आर मरे पूछन पर यदि तुमन मेरे प्रदना वा उत्तर गही दिया, तो तुम भी यम लोच के पाँचवें अतिथि हो जाओगे—

त्य पञ्चमो भविता राजपुत्र

न चेत् प्रदानान् पृच्छतो व्यावरापि ॥

आ प 313 29

यह सुन कर युधिष्ठिर बौतूहलवम सविस्मय पूछन लग— पृच्छामि भगवस्तस्मान्
वा भवानिह तिष्ठति—भगवत् । मैं सानुनय पूछ रहा हूँ कि आप कौन हैं
और किस रूप में यहाँ विराज रहे हैं? प्रश्न के प्रत्युत्तर में आनाज गूज उठी—

यक्षोऽहमस्मि भद्र ते नास्मि पक्षी जलेचर ।

भयंते निहता सर्वे भ्रातरंते महोजस ॥

आ प 313 36

तुम्हारा कस्याण हो । मैं जलचर पक्षी नहीं यक्ष हूँ । तुम्हारे ये सभी महान्
तेजस्वी भाई मेरे द्वारा ही मारे गये ह ।' तब युधिष्ठिर ने यक्ष से प्रश्न पूछने
हेतु विनम्र निवेदन किया— सत्पुरुष कभी आत्म प्रशंसा में नहीं रमते आप
प्रश्न करिय, मैं स्वप्रज्ञानुसार प्रश्ना का उत्तर अवश्य दूंगा—

यदात्मना स्वमात्मान प्रशसे पुरुषपम ।

यथा प्रन तुत प्रश्नान् प्रतिवक्ष्यामि पृच्छमाम् ॥

आ प 313 44

युधिष्ठिर का यह कहना ही था कि प्रश्ना के भेज मूसलाधार वपण करने लगे
श्लोक सत्या पतालीस (45) से लगाकर श्लोक सख्या एक सौ तैंतीस तक
यक्ष और युधिष्ठिर के प्रश्नोत्तरी की झड़ी लगी रहती है आगामी अध्याय के
सारे उत्तरीस (29) श्लोको में यह सवाद अपनी पूणता पर आता है, जब यह
रहस्य खुलता है कि वह अरणी वाला ब्राह्मण, वह मृग, वह अदृश्य बोल, वह
प्रकट यक्ष और कोई नहीं स्वयं 'धमराज' ही थे जिनके अश से युधिष्ठिर की
अथ पाण्डवों की भाँति में श्रोत्पत्ति हुई थी ।

उन अनेक रहस्यमय प्रश्ना के समाधान मूलक उत्तर में— कि सूर्योदय
किसके कारण होता है— कि स्विव् आदित्य उत्तयति?, उसे अस्त कौन करता
है— कस्त्वेनमस्त नयति?, वह किस अधिष्ठान पर प्रतिष्ठित है— कस्मिंश्च
प्रतिष्ठति? — युधिष्ठिर कहते हैं कि ब्रह्मा ही सूर्योदय का कारण है, धम
(शाश्वत नियम) उसे अस्त करता है, और रात्य में वह प्रतिष्ठित है । इन उत्तरों

से स्पष्टतया यह लम्बित होता है कि युधिष्ठिर यह जानते हैं और विरुद्ध
करते हैं कि समूचा ब्रह्माण्ड ऋत और सत् के अटल नियमों द्वारा व्यवस्थित
और संचालित है। यक्ष के अर्ध प्रश्न पर कि ब्राह्मण की प्रतिष्ठा किस पर
आश्रित है? युधिष्ठिर कहते हैं कि यह पतृक सम्पदा, यक्ष परम्परा और
नुगत ज्ञानाजन पर आश्रित नहीं है, परन्तु यह सबभूत हित मूलक समाजसेवा
के नेतृत्व प्रदान करने वाले निमल चरित्र पर आधारित है। इससे युधिष्ठिर
की यह मायता व्यक्त होती है जिसमें आदरा ब्राह्मतेज और ब्रह्मनिष्ठा में नेतृत्व
का स्वरूप दर्शन होता है। यक्ष अब एक जटिल प्रश्न कर बैठता है— मनुष्य
की आत्मा क्या है— 'किं स्विदात्मा मनुष्यस्य?', देवता से दिया हुआ भिन्न
कौन है— 'किं स्विद् देवकृत सत्ता?', मनुष्य के जीवन का आत्मम्वन कौन
है— 'उपजीवन किं स्विदस्य?', और मनुष्य जीवन का श्रेष्ठतम आचरण क्या
है— 'किं स्वियदस्य परायणम्?' इसके समाधान में युधिष्ठिर शीघ्र बह बैठते
हैं— 'पुत्र ही मनुष्य की आत्मा है, पत्नी ही देवता प्रदत्त सती है, भेद्य ही जीवन
का आत्मम्वन है, और दान ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ आचार है।' (313-51)
अततागत्या नानाविध प्रश्नों के पूछ लेने पर (शायद आधुनिक स्वतंत्र भारत
के जन सेवा आयोग के विशेषज्ञ भी इतने और ऐसे प्रश्न न करते होंगे) यक्ष का
पटाक्षेप प्रश्न आता है—

का मोदते किमाश्चय क पया का च वार्तिका ।

ममैताश्चतुर प्रश्नान् कथयित्वा जल पिब ॥

आ प 313 114

सुभी कौन ह? आश्चय क्या है? माग क्या ह? आर वार्ता क्या है? मेरे इन
चार प्रश्नों का उत्तर दो और जल पीओ।

युधिष्ठिर 11 चार प्रश्नों में इन प्रश्नों का उत्तर दिया— 'जिस पुरुष पर ऋण
न ही, जो परदेश में न हो, यह अपने घर में शान पात पका कर भोजन करने
वाला सतोपी सुखी है', 'भस्तर में सदा जीव मरते ह किन्तु जा जीवित बचे हैं
वे सोचते हैं कि वे अभी न मरे— यही सबसे बड़ा आश्चय है', 'तक मात्र से
क्या होता है, श्रुतियों भी मित्र भिन्न हैं, एक ही ऋषि नहीं है जिसका मत
प्रमाण माना जाय तथा धर्म का तत्त्व गुहा में निहित है अथवा अत्यन्त निगूढ
है, अतः जिससे महापुरुष जाते रहे हैं, वही माग है', 'इस महा मोह रूपी कड़ाहे
में भगवान् बाल समस्त प्राणियों को मांस और ऋतु रूप करछी से उलट पलट
कर सूर्यरूप अग्नि और रात दिन रूप इन्धन द्वारा राख रहे हैं, यही वार्ता है।

इस संवाद से स्पष्ट है कि युधिष्ठिर की दृष्टि में प्रकृति का अखिल
साम्राज्य विश्व स्रष्टा द्वारा संचालित है, मानव अपने कर्म व पुरुषार्थ के

अनुसार युद्ध दुःख, उत्थान पतन, एण्यय दारिद्र्य भोगता है, श्राध ही जीवन में निराशा लाने वाला मूल कारण है, काम वासना ही दुःख और व्यथा की योनि है—इनके (काम और श्रोध के) समपण से ही मनुष्य शान्ति के परम धन से समृद्ध होता है, और शान्ति ही आत्म सन्तोष और कृष्णा कौशल की पथ प्रशस्तिका है, इसी तोष और कृष्णा की भाव भूमि में सबभूतहित की निमल कामना का अभ्युदय होता है जो मानव जीवन का सर्वोच्च ध्येय और उत्तम मूल्य है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि बौद्धिक चेतना के घरातल पर युधिष्ठिर के विचार और विश्वास सबथा सत्य और धर्म के अनुकूल हैं, तथापि उसके जीवन में यह सब कुछ घटित होते हुए नहीं दिखता। उनकी करनी उनकी कथनी से सबदा मेल नहीं खाती। यही कारण है कि युद्ध में विजय प्राप्त करने वाले युधिष्ठिर स्वयं अपना हृदय दौबल्य पर पूण विजय की पताका नहीं फहरा सके हैं। इसी के फलस्वरूप अपने विरोधी दुर्योधन आदि दुश्मन के भीषण सहार और विध्वंस के कारण अत्यंत दुःखी और विह्वल हो जाते हैं, और जब उन्हें हस्तिनापुर के राज्य सिंहासन पर आरुह्य हान के लिए अनुरोध करते हैं, तो वे भारी मन और तीव्र अनिच्छा से ही वैसा कर पाते हैं। वे मलीभाँति जानते हैं कि युद्ध की दुःखी स्थिति मृत रिपुजना के लिए नहीं अपितु युद्धोपरांत जीवित नैतिक चेतना से अभिभूत व्यक्तियों के लिए है, जिनके हृदय समस्त ध्वसावशिष्टानल में अभी भी जल भुन रहे हैं, जिनके तंत्र विनाशाग्नि में बुझती हुई लाशों में से उठते हुए पुएँ से अभी तक रुग्ण, रक्तिम और अध्रुपूरित हैं। दुर्योधन की अद्ध ऊर्ध्वारोही विनाश, पर क्षत विक्षत देह के समक्ष खड़े युधिष्ठिर उसे कहते हैं— 'दुःखान्त तुम्हारा नहीं है, बल्कि हमारा है यह हमारा दुर्भाग्य है कि हमें लाखों विधवाओं के अभिशप्त जीवन को देखने के लिए जीना पड़ रहा है—'

वयमेवाधुना शोच्या सर्वाविस्थासु कौरव ।

घ्रातणा चैव पुत्राणा तथा वै शोकविह्वला ।

कथं द्रक्ष्यामि विधवा बधू शोकपरिप्लुता ॥

एतत्पवनविमदापव 5 6 27 29¹

अतः युधिष्ठिर पूण रूप से आश्वस्त हैं कि अत्यंत महत्त्वपूर्ण मूलभूत मानव जीवन का नैतिक मूल्य मानवता को युद्ध और त्रिंशस से बचाया ही है—मृत्यु और महाविनाश से महामानवता की रक्षा से अधिक पावन कोई धर्म नहीं, इससे अधिक पवित्र और मूल्यवान कोई नीति नहीं, इससे अधिक मानव हितकारी और आनन्दसत् स्वातन्त्र्य का पोषण प्रतिपादक कोई दशा नहीं। परन्तु युद्ध जब अटल और अवश्यम्भावी हो जाय, बिना युद्ध किये मानवीय मृत्यु की

रक्षा करना अशक्य हो जाय, और एसी विपत्तिसंस्था में युद्ध न कराना धर्म-
भीरुता व पलायनवाद बन जाय, तो 'यायोचित युद्ध करने का दुःखान्त निणय
वस्तुतः उत्तम जीवन व व्यापक धर्म की निकट पर अत्यन्त खरा और मानवीय
निणय ही माय होता है। नरोत्तमता के पथ का यह नितांत अनिवाय सोपान
बन कर मनुष्य की श्रेष्ठतरता का पोषण करता है।

यक्ष युधिष्ठिर सम्वाद का पुनः स्मरण युधिष्ठिर के इसी आनृशस भाव
की अभिव्यक्ति हेतु श्रेयस्कर एवं उपयोगी है। युधिष्ठिर के द्वारा दिये गये
उत्तरों में जब यक्ष पूणतया सन्तुष्ट हो जाता है तो वह युधिष्ठिर को वरप्रदा
वाणी में कहता है कि वह अपने मृत चारों भाइयों में से किसी एक भाई के पुत्र
जीवित हो उठने का वर मांग ले— 'तस्मात् त्वमेव भ्रातृणा यमिच्छसि स
जीवतु' (वनपर्व 313, 122)। युधिष्ठिर ने इस निवेदन पर कि 'हे यक्ष !
नकुल जीवित हो जाय'— नकुलो यक्ष जीवतु (व प 313 123)— यक्ष
आश्चर्यावित मुद्रा से प्रश्न पूछता है 'हे युधिष्ठिर ! तुमने सहस्र हाथिया
वाले बलशाली और महापराक्रमी भीम का जीवन दान क्या नहीं मागा, वह
वनवास की दुःख यात्रा में कितना सहयोगी सिद्ध होता ? न तुमने अति परा-
क्रमी धनुषधर वीर अज्ञान की पुनर्जीवित करने की बात कही, वह हर सक्ल के
समय एक महान यक्ष और रक्षक के रूप में तुम्हारी आज्ञा में नित्य निरत
रहता। तुमने केवल नकुल के पुनर्जीवन की ही मांग क्यों की ?' यक्ष के इस
प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर ने जो सहज भाव प्रस्तुत किया उसमें जीवित मूल्य
की उच्च परम चेतना का दान होता है जिसमें युधिष्ठिर की अस्तित्व और
अस्मिता प्रधान जीवित मूल्यों की सीमा से बहुत परे, आनन्दसत्त्व की नैसर्गिक
और प्रेममय अभिव्यक्ति होती है। यह कहता है कि 'हे यक्ष ! मेरे पिता की दो
पत्नियाँ मर गईं और मैं हीमन्तव्य हे आर दूसरी माँ की एक बेटे को नकुल
और सहदेव हैं। हम पाँचों पाण्डुपुत्र हैं। नकुल के पुनर्जीवन में दिग्गत माँ की
माँ की स्मृति-निरतय के सुखानुभव से अधिक पावन और मेरे मन को सन्तोष
दायकी और कीर्तिदायक तभी हो सकती क्योंकि 'मेरी दृष्टि में आगाम (स्नह
निष्पन्न समता और निष्ठा युक्त प्रेम व दया) ही परम धर्म है, जीवन का सच्चा
परमाय है, और इसी आनन्द भाव के सहजोद्रेक से मैं नकुल को जीवित
दान चाहता हूँ—'

आनृशस्य परा धर्म परमार्थाच्च न मतम् ।

आनृशस्य चित्तार्पणं, नकुलो मदा जीवतु ॥

वनपर्व 313 129

अज्ञान भावों के सन्तुष्टि निवेदन है कि मेरी दानों माताएँ पुनर्वती रहें—'उत्तमे

सपुत्रे स्याताम्'—वर्थात् मेरे अन्तःकरण में दोनों माताआ के निष्ठा और आदर भाव है।

युधिष्ठिर के इस उत्तर से यश अत्यन्त प्रसन्न हुआ उठे अ उठाते सभी मृत भाताआ के पुनर्जीवित हो उठने का शीघ्र वर

युक्ति की जिस प्रासंगिकता के अवलम्बन से यश युधिष्ठिः यत है उसमें मानव जीवन की दृष्टियाँ एक तज्ज यदा प्रमूल्या ही गहरी पारस्परिक मित्रता के साथ साथ एक ही हीन की श्रेष्ठता का स्पष्ट द्योतन होता है। एक जीवन-दृष्टि केवल अर्थात् पुरुषार्थद्वय को लेकर है और दूसरी धर्म, अर्थ, काम अ पुरुषार्थ चतुष्टय के आधार पर निर्मित है। प्रथम दृष्टि 'इदमित्यम जीवत की निष्ठा'त भौतिकवादी अधम दृष्टि है और दूसरी ब्रह्म और इदम् की समन्वित पूणताजय आध्यात्मिक जीवन की मान दृष्टि है जिसकी प्रेरणात्मक अर्थ-योजना आनन्दसत्त्व को लेकर कहत है—हे भरत श्रेष्ठ ! तुमने अर्थ और काम से भी श्रेष्ठ मान दया, समता और आत्मनिष्ठा के तत्तुआ स सृष्ट और इनके श्रोत अपने जीवन में आदर किया है, अतः तरे मर्माई पुनर्जीवित

तस्य तर्थाच्च वामाश्च आनन्दस्य परमतम् ।

तस्मात् ते भ्रातरा सर्वे जीवतु भरतपते ॥

वनपर्व 313 132

इन वरद शब्दों के उच्चारण के साथ ही युधिष्ठिर के चारों ओर उठते हैं। स्वयं यश भी अपने अतली रूप में प्रकट हो कर वह युधिष्ठिर ! मैं तुम्हारा जनक धर्मराज हूँ—अहं ते जनकस्तात धर्म प्रम — और तुम्हें देखने के लिए और तुम्हारी परीक्षा करन हेतु आया था। तुम्हारे इस आनन्दसत्त्व भाव में ही धर्म का प्रवेश द्वार है। युधिष्ठिर की धर्मपरायणता से अत्यन्त प्रसन्न होकर धर्मराज वरदान दिये— प्रथम कि हरिण जिस ब्राह्मण की अरणी को लेकर अरण्य में लुप्त हुआ था और जिस हरिण का पीछा करत हुए पाण्डव आये थे, वह मैं ही हूँ। उस ब्राह्मण को यह अरणी लौटा दो ता अग्निहोत्र निवाह चलता रहे। दूसरा यह कि तुम्हारे बारह वध के पश्चात् अज्ञातवास का तीरहवाँ वध है, उस अवधिकाल में तुम्हें मरने के कष्टस्वरूप कोई भी पहिचान नहीं सकेगा—'नाभिजानीयुः'। अपनी इच्छानुकूल एक बार वरदान मागना चाहते हो ता माग युधिष्ठिर ने एक अगाध मनुष्यत्व और नरात्म भाव को बताने और

दाना वर मागा—

जयेय लोभ मोहो च श्लोघ चाह सदा विभो ।

दाने तपसि सत्ये च मनो मे सतत मवेत् ॥

अर्थात्, हे विभो ! मैं चाहता हूँ कि लोभ, मोह और श्लोघ पर मैं सदा विजयी रहूँ और मेरा मन निरंतर सत्य, तप और दान में नित्य रमणशील रहे ।'

मनस्थली की सत्यमयी अश्रोधावस्था का सवजयी साम्राज्य युधिष्ठिर ने मागा और पा लिया । जिसका मन अपने वश में होता है सारा ससार उसके स्वामित्व में रहता है क्योंकि स्व विजय ही विश्व विजय का राजमाग है, जिसका मन सत्य में तपोपूत और रमणशील होता है वह सबन सबकाल सत्य मय जीवन यापन द्वारा विश्वप्रेम, अस्पृह्य अहिंसा और परम चेतना की नारायणी अवस्था में नित्य प्रतिष्ठित होने की सामर्थ्य का धनी हो जाता है । जो सत्य का है और सत्यशील है, वह सब का है सब के लिए ह क्योंकि सत्य स्वयं सब का है । सत्य ही जीवन है, जीवन का अधिष्ठान है, जीवन का वास्तविक रस है, अमृत है । इसी से और इसी में प्रेम, अहिंसा और करुणा की प्राण प्रतिष्ठा है । क्या यह युधिष्ठिर का निजी अनोखापन नहीं है कि वह इस अमृतरूप सनातन सत्य की अपने जीवन में—विचार और व्यवहार की समरसता में—नित्य अभियक्ति के आतुर उदाहरण है ? महाभारतकार वस्तुतः इसी आनुशस भाव की प्रतिष्ठा मानव मात्र के जीवन में देसना चाहते हैं । इसीलिए वे अर्जुन, भीष्म व भीम आदि को नहीं परन्तु केवल युधिष्ठिर को महाभारत का नायक बनाते हैं, मानवीयता के धवल और शुद्ध दुग्ध से पोषित उनकी करुणा मयी सहिष्णुता, आत्मा की परम चेतना के स्तर से, सत्याथ और धर्माथ सघ घृच्छ सदन वर लेती है । युधिष्ठिर का निरद्वन्द्व और सुसंस्कृत जीवन साततन सत्य का अपूर्व वार अनिच्छ अनुष्ठान प्रतीत हाता है, और इस अनुष्ठान में एकमात्र अपराध दोष यदि है तो वह 'नरो वा कुजरो' का अमत् उद्घोष है जो वस्तुतः सत्यार्थी पाण्डवों के सबविनाश की द्रोणजय विवशता से उद्भूत होने के कारण केवल शम्य ही नहीं है, वरन् युधिष्ठिर की सत्यपरक, धममयी मानवीय धवल वीर्य को और अधिक उजागर करने वाला आनन्दसत्त्व का ही अनिनव रूप है । एतच्छ्रुत्या, 'अवस्थापामा इतो नरो वा कुजरो वा' जीवन मूल्या के सघप का चरम दृष्टान्त लगता है ।

सारागत, महाभारत में मानव जीवन मूल्या का सघप मूलतः पुरुषार्थ-द्वय और पुरुषार्थ चतुष्टय की भौतिकवादी और अध्यात्मवादी दृष्टियाँ के बीच जिसके अध्ययता भ्रमण कारण और पाण्डव हैं—सतत प्रवर्तमान सघप है जो अस्तित्व, अस्मिता और आनन्दसत्त्व की वशीलता पर प्रधानतया तीव्र चरणों

मे से प्रसन्न गुरुजर और यगजात होता हुआ विप्लवी त्रिध्वस की धार वदना
जम अतद्व-द्वानि एय महायुद्धानि मे से अगा विजय-पथ प्रशस्त करता है ।

तृतीय प्रकरण

‘यतो धर्मस्ततो जय’

मानव की जय यात्रा

विजय युद्ध-भागिनी है। जीवन में विजय का आलोक प्राप्त करने के लिए युद्ध का द्वार खोलना पड़ता है क्योंकि युद्ध ही विजय का द्वार है। यह द्वार दो तरफ खुलता है भीतर की तरफ और बाहिर की तरफ। भीतरी द्वार को अतद्वन्द्व कहते हैं और बाह्य द्वार को युद्ध। अतद्वन्द्व मानव की हृदय स्वामी में वैयक्तिक स्तर पर ही होता है, परंतु बाह्य जगत् की अनुकूल और प्रतिबुद्ध विपमताओं एवं परिस्थितियों घटनाओं को ज्यों ज्यों वह आत्मसात् करके पचाता चलता है, यह स्वकीय सजीवताओं और अट्टर भावों के विचारों की सीमाओं का उत्तरोत्तर लाघता हुआ तज्जाय अहता की महामानवता के अगाध और अछोर सामरीय अनंतता में लय कर देने की पूर्ण तैयारी में आ जाता है। परिणामतः इस प्रक्रिया में विवेक प्रदीप्त हो उठता है और उसके आलोक में मानवीय बुद्धि और मानुषीय भावों को बल मिलता है उसमें आनन्दसत्त्व का, जीवन में, पापण हाता है तथा हर समागत और सम्भावित समस्या के हल व समाधान हेतु मानव मन में नूतन-नूतन भाव उन्मुक्त होते चले जाते हैं। (ह्ला-भाव में मनुष्य का मन टूटता नहीं, समाहित रहता है, निराशा के श्यामल मेघ आते हैं, परंतु विवेक की ज्योति में उगी निशीथमयता का अंत हो जाता है। स्व अस्तित्व और अस्मिता की शुद्ध सीमाओं से उज्ज्वलित रूप मण्डूकता रूपी अघवार से बाहिर निकल कर वह आनन्दसालोक से आप्लावित होता हुआ मानव जीवन की सवहितपिणी परिपूर्णता के महासदन में प्रवेश की सामर्थ्य अर्जित कर लेता है। आनन्दसता ही नर में नरोत्तमता के अजस्र स्रोत का प्रवाह उन्मुक्त करके उसे नारायण का साक्षात्कार करा देती है। इस प्रवाह में, नारायण में, पूर्ण त्रिलय की समग्रता ही नर की नन्दसता पर विजय है, मानव धर्म का अधम पर और मानवीय भाव का अध्याय पर धरजारोहण है। इस विजय में मनुष्य को अपने ही शैबल्य पर, अपने भीतर के शत्रुओं—दाम, क्रोध, मद, मोह, लाल, भ्रतर आदि— पर जीत का अनवरत घटनाद करना पड़ता है।

अपने वह के मर्दन में ही स्वातन्त्र्य नारायण के दशन का प्रमुख द्वार है। नर से नारायण तक की आत्म मुक्ति यात्रा में उत्कट अतद्वद्भ के इस अत्यंत क्षीणे और सूक्ष्म द्वार में से गुजर कर आगे बढ़ना होता है। इस अतद्वद्भग्नि के द्वार में प्रवेश करने से मनुष्य का वासना रूपी मल और अज्ञानरूपी अधकार का ईंधन जल कर भस्मीभूत हो जाता है।) परिणामतः अंतःकरण अत्यन्त निमग्न हो उठता है— अग्नि में तप्त हुए युद्ध स्वर्ण की तरह—और अज्ञान जय भय और क्षुद्रता भी तिरोहित हो जाते हैं। अन्तःकरण की निमलता से मानवमात्र के प्रति ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विज्जडमय सृष्टि के प्रति प्रेम, उदारता और तादात्म्य का भाव उमड़ पड़ता है। इसी भाव का महर्षि व्यास ने आनुशस की सज्ञा से अभिहित कर उसे समस्त ब्रह्माण्ड को संचालित करने वाले 'धम का द्वार' कहा है। इस भाव के अभ्युदय में नर नरोत्तम में विवसित हो उठता है और नारायण की पूणता में उसके प्रतिष्ठित होने का मांग आगे उमुक्त हो जाता है। अतद्वद्भ इस प्रकार मनुष्य को आत्मजयी बनाकर मानवता का प्रबुद्ध पोषक और सर्वात्मभाव का प्रेरक पुत्र व प्रकाशक प्रतिनिधि बना देता है। यह है जीवन में विजय का आलोक प्राप्त करने के लिए युद्ध का भीतरी द्वार।

जिस प्रकार अतद्वद्भ के दावानल में मनुष्य के भीतरी शत्रुओं, सघातों और भयावह दुबलताओं का धोर विध्वंस, मनुष्य की नर से नारायण की दुग्म यात्रा को सफल बनाने में सहायक होता है उसी प्रकार लक्ष्य लक्ष्य नर-वीरा का संहारक बाह्य रणक्षेत्र में दो विपक्षी सेना गुटा व राज्यो में घटित महायुद्ध की भीषण अग्नि में सत्य, माय और मानवता के शत्रुओं का विध्वंस समाज व राष्ट्र के जीवन में सत्यपरायणता, मायशीलता और धर्मप्रिय मानवीय वरुणा को प्रोत्साहित करने वाला सिद्ध होता है। युद्ध मृत्यु का ही विवराल रूप है जिसके सम्भव बोध हो जाने पर मनुष्य मृत्यु के भय से मुक्त होकर मानवता के पोषक तत्वों का प्रयास केन्द्र बन जाता है। उसकी मानवीय संवेदना शन शन सारे समाज का आप्लावित कर देती है। महाभारत में त्रिनेपतया तीन पार्श्वों को मृत्यु का दशन होता है—अर्जुन, धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर को अर्जुन को युद्ध के पूर्व और शेष दोनों को युद्ध के पश्चात्। अर्जुन को मृत्यु का भयावह रूप दिगता है, धृतराष्ट्र को मृत्यु के निर्मम रूप का दग्गन विदुर द्वारा कराया जाता है, युधिष्ठिर मृत्यु की वरुणरूपता का दग्गन करता है। विच्छिन्त गहराई में महाभारत की साधक महत्ता का अन्वेषण करने से लगता है कि यह समूचा महाकाव्य एक ओर युद्ध को एक ही राज्याभिषेक की दो पाशाओं के अधानव के माध्यम से एक व्यापक और विश्वनीय धार्मिक, सामाजिक, नैतिक और

आध्यात्मिक सत्य की प्रतिष्ठा का निष्पन्न बनाता है और, दूसरी ओर, वही युद्ध 'मृत्यु के भय, मृत्यु की निमग्नता और मृत्यु की कर्णरूपता की तीन धाराओं में प्रवाहमान होकर अन्त में मानवीय सम्बेदना की एक चरम निश्चल शान्ति में मिला जाता है। मृत्यु के इन तीनों रूपों की पहचान कितनी विश्व-व्यापक और कितनी सनातन है, और इस मृत्यु के द्वारा जीवन में किस प्रकार मानवीय संपृक्तता लाई जा सकती है, यही महाभारत का मूल मर्म है।' (परम्परा बचन नहीं, पृष्ठ 21, श्रीविद्यानिवास मिश्र)।

इस मर्म के रहस्योद्घाटन में मानव की विजय यात्रा का स्वरूप गुम्फित है। अतः मृत्यु के रूपत्रय के दर्शन का सम्यक् विश्लेषण विवेचन अपेक्षित है।

मृत्यु के तीन रूप—विजय के भीतरी द्वार

1 अर्जुन द्वारा युद्ध पूर्व मृत्यु का दर्शन भयावह रूप

बौरव पाण्डवों के युद्ध के आरम्भ होने के पहले दोनों ओर युद्धार्थ सैन्य संगठन की तैयारियाँ होने लगती हैं। श्रीकृष्ण को रण निमंत्रण दान के लिए दुर्योधन द्वारका पहुँचते हैं, उसी दिन अर्जुन भी वहाँ पहुँच जाते हैं। क्या प्रसिद्ध है, दुर्योधन को तो कृष्ण की अन्त बल शालिनी नारायणी सेना चाहिए थी अतः कृष्ण दुर्योधन को मागपूति सेना देकर करते हैं, परन्तु अर्जुन ने स्वयं कृष्ण को मागा और कृष्ण उसकी सहायताथ तत्पर हो जाते हैं।

तदनन्तर कृष्ण अर्जुन से पूछते हैं—अर्जुन! जत्र मैंने युद्ध स्थल पर निश्चर रह कर युद्ध न करन की प्रतिज्ञा की है तब तुमने गया सम्यक् नारायणी सेना को छोड़ दिया और मुझको ही अपनी सहायताथ चुना? 'अयुध्यमान सग्रामे, -पस्तशस्त्रोऽहमेकत' (उद्योगपर्व, 7 19)। तब अर्जुन कहते हैं— है, पुरुषोत्तम! आप अकेले ही उन सबको विनष्ट करने में समर्थ हैं, इसमें तनिक भी सशय नहीं है। मैं भी अबेला ही (आपकी कृपा से) उन सब धनुओं का सहारा करने में समर्थ हूँ। पर मेरे मन में बहुत दिना से यह अभिलाषा थी कि आप मेरे सारथी बनें—

भवान् समथस्तान् सर्वान् निहतु नात्र सशय ।

निहतुमहमप्येक समथ पुरुषपम ॥

सारथ्यं सुत्वया कार्यं इति मे मानसं सदा ।

उ प 7 35-37

इस प्रकार, कृष्ण अर्जुन के सारथी बन जाते हैं। सारथ अर्जुन की यह मायता है कि श्रीकृष्ण ही धर्मपुरुष, और धर्म ही विजय रूप में व्यक्त होने वाला तत्त्व है। अतः अर्जुन अपनी विजय हेतु इसीलिए आपवस्त है कि वह धमपक्ष धनुधर और स्वयं पगविग्रह भगवान् कृष्ण उसके सारथी हैं।

अभी तक दुर्योधन की भाँति अर्जुन भी विजय प्राप्तयथ आश्वस्त है। दोना भावी विजय के दशन करते ह। दुर्योधन जानता है कि उसके पास ग्यारह अक्षौहिणी सेना है, 'वह मेरे लिए मरने को इच्छा ही हुई है'— मध्य त्यक्त जीविता — अत उसकी जीत सुनिश्चित है, इसे कोई नहीं टाल सकता। विजयाक्षी अर्जुन भी दुर्गादेवी को, कृष्ण के उपदेशानुसार, अपनी विमलमति स प्रायना द्वारा प्रसन कर चुका है, उससे वर भी प्राप्त कर चुका है कि स्वल्प काल मे ही युद्ध मे वह 'शत्रुओ पर विजय' प्राप्त करेगा—'स्वल्पेनैव तु कालेन धनुञ्जेप्यमि पाण्डव' (भीष्म पव 23 18)। अत अर्जुन भी अपनी विजय को अटल और निश्चित मानता है। और फिर श्री कृष्ण के सारथित्व को पाकर तो उसका उत्साह गगनो मुखी है। सजय की वाणी भी उसके चिदगगन म गुजायमान है—'यता धमस्तत कृष्णो, यतस्कृष्णस्ततो जय' (भीष्मपव, 23 28)। अत अर्जुन और दुर्योधन दोना विजय हेतु कटिबद्ध हैं, उद्यमगोल हैं और आश्वस्त ह।

कुरुक्षेत्र के मैदान म कौरवो और पाण्डवो की सेनाएँ युद्ध करन के लिए मोचा लेकर आमने सामने खडी है। (भीष्म पितामह कौरवो के प्रधान सेना पति ह और पाण्डवो के धनञ्जय। पाण्डव सेना के अग्रभाग म नदिघोष रथ पर बैठे महापराक्रमी धनुषर अर्जुन दख रहे हैं कि कौरव वाहिनी के सेना नायक महारथी भीष्म सबसे आगे हैं। दुर्योधन भी अपनी रण यूह रचना का निरीक्षण करते हुए अग्रिम दृष्टि करते हैं तो देखते हैं कि स्वय कृष्ण अर्जुन के नदिघोष रथ का संचालन करने सारथि के रूप मे रणोद्यत है। दुर्योधन और कौरव सैनिका के हृदय मे हर्षोल्लास का वद्धन करने हेतु भीष्म पितामह उच्च स्वरीय सिंहगजन करते हुए शखनाद करते हैं, यह युद्धारम्भ की सूचना है। इससे प्रत्युत्तर म श्रीकृष्ण पाञ्चजंय नामक शख, अर्जुन देवदत्त नामक और मया नव दहाड करन वाले भीम पाण्डुनामक महाशख वजात है। चारा दिशाओ मे शीघ्र ही रणभेरियो आदि का तुमुल नाद होने लगता है, रथो पर ध्वजाएँ फट्टा जाती है। सवत्र एक अद्भुत रोमाञ्चकारी दृष्य उपस्थित हो रहा है।)

सहसा एक घटना घटित होती है। अर्जुन अपने सारथि कृष्ण को कहत हैं कि 'भैर रथ को दोना सेनाओ के बीच मे ल जाकर खडा करो'—सेनयोष मयामध्य रथ स्थापय मेऽच्युत ताकि कि मैं निरीक्षण कर सकू कि कौन कौन मेरे साथ युद्ध करने आये हुए हैं'—यावदेतात्रिरोक्षेऽह योद्धवामानवस्थितार्। वहाँ अर्जुन देखता है कि उसके ठीक सामने भीष्म पितामह हैं, द्रोणाचार्य है सगे हैं, सम्बन्धी हैं, साठे हैं, धनुषर हैं, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा है भाई दुर्योधन आदि अनेक स्वजन हैं। उन उपस्थित सम्पूर्ण वधुआ एक भुञ्जना तो देखकर

अर्जुन का मन विपाद और करुणा से भर जाता है— 'तासमीदय स कीर्तेय सर्वाचघनवस्थिताम् । वृषया परया विष्टो विपोदक्षिदमश्रवीत्'— और वह युद्ध न करने की ठान लेता है । वह वृष्ण से तुरन्त कह उठता है 'हे कृष्ण ! युद्ध क्षेत्र में डट हुए युद्धामिलापी इस स्वजात समुदाय का देग कर मेरे अङ्ग निश्चित हुए जा रहे हैं और मेरा मृग सूखा जा रहा है तथा मेरा शरीर में कम्प एव रोमाञ्च हो रहा है, हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी ज्वलनशील हो रही है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है । अतः मैं राडा रहने भी असमर्थ हूँ । हे केणव ! युद्ध में स्वजना को मार कर मैं बल्याण नहीं देखता ।' युद्ध में भयानक परिणामों और असह्य नर-धीरो और स्वजनो की मृत्यु का अर्जुन मन ही मन साक्षात्कार करता है और इस मृत्यु की रोमाञ्चक विकरालता का देख कर वह युद्ध न करने का निश्चय कर लेता है ।

अर्जुन इस भावी मृत्यु का दशन वृष्ण को भी कराना चाहता है । वह कह उठता है 'हे कृष्ण ! मैं न तो विजय चाहता हूँ—'न वादद विजय वृष्ण' और न राज्य सुख की मुझे अभिलाषा है ! ऐसी विजय से क्या प्रयोजन जिसमें स्वजना और गुणज्ञो की निमम हत्या होती है, जिसमें कुलक्षय होता हो तथा जिसके परिणाम स्वरूप राज्य की स्त्रियो को पुत्रविहीन और विधवाएँ बनना पड़े ? हे वाष्पेय ! वैधव्य समाज में धनसङ्करता उत्पन्न करने वाला होता है, और उससे सनातन जाति धम और कुल धम ही नष्ट हो जाता है । यह तो घोर पाप है, अधम है । मैं जानता हूँ कि दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के पुत्रों का चिरा लोमाश्रात है—'लोमोपहत चेतसः,— और वे अधम और अयाय कर रहे हैं तथा विचारहीन हैं, पर तु हम तो द्रुपद युद्ध के दुष्परिणामों पर विचार कर सकते हैं ।' ऐसा करते हुए बाण सहित धनुष को त्याग कर शोकमविग्न मन से अर्जुन रथ के पृष्ठ भाग में बैठ जाता है ।

शोकाकुल और करुणाग्रान्त अर्जुन के इस रण पराडमुख दृष्य को देखते ही सारथि वृष्ण समझ जाते हैं कि उनका महारथी मोह रोग से ग्रसित हो रहा है । वस्तु स्थिति के असत्य मूल्याङ्कन के कारण अर्जुन के तीनों शरीर—स्थूल, सूक्ष्म और कारण—मोह रूपी बीमारी से जलने लगते हैं । एक अच्छे महावैद्य की तरह वृष्ण मोह उपचारार्थ चिकित्सा करने लगते हैं, वे कहते हैं 'अर्जुन ! तुम हमेशा रिता निमल आर तेजस्वी थे, कायरता की विपाद मरी छाया से अब क्या घिर गये हो ? तुम्हारे जैसे शूरवीर को यह शोभा नहीं देता । सत्य पथ से इस प्रकार विचलित हो जाना अकीर्तिकर पतामन है । यह तो नपुंसक-पना है अर्जुन इस छाड । यह विचित्र माहजय परिणा, और वह भी इस युद्ध-रम्भ की विपदाग्रस्था में ! सबका अनुचित है । अर्जुन ! तू तो परतप है,

दुःखमनो तो पल भर में तपाने, हारने और मारने वाला ! अतः शीघ्र अपने हृदय की दुर्बलता को छुट कर युद्ध करने के लिए उठ महा हो — 'क्षुद्र हृदय दीपत्य ह्येत्योत्तिष्ठ परतप' ।

कृष्ण की यह प्रताडना अर्जुन के लिए 'साव धेरेपो' सा काम करती है । धार्मिक वीर अर्जुन के ठठे पड़ते हुए ग्लान तो गरम करती वाली इस 'धेरेपो' के प्रेरणाप्रद प्रभाव को कृष्ण देख रहे हैं । अर्जुन प्रत्युत्तर में अपने परिवर्तित एवं युद्ध न करने वाले निष्णय हेतु तर प्रस्तुत करते हुए प्रणिपात-परायण हो जाता है । यह कहता है 'वापण्यदोष से मेरा स्वभाव अपहृत हो गया है, अतः मैं धर्म गूढ़ चित्त वाला तुम्हें पूछता हूँ कि इस स्थिति में मेरे लिए क्या करना श्रेयस्कर है ? मैं आपका शिष्य हूँ, आप मुझे उदबोधित करें, मैं प्रपन्न हूँ, शरणागत हूँ, आप उपदेश दें, आदेश करें—

वापण्यदोषोपहत स्वभाव

पृच्छामि त्वा घम सम्भूतं चेत्ता ।

यत् श्रेय स्यात् निश्चितं ब्रूहि तमे,

शिष्यस्तेऽहं साधि मा त्वा प्रपन्नम् ॥

म गो 27

ज्याही अर्जुन का शिष्यत्व प्रकट होता है, त्योही कृष्ण में गुरुत्व का अम्युदय होता है और उसी प्रबल स्फुरण में मोहनाशी गीता ज्ञान का निक्षर फूट पड़ता है योगेश्वर गुरु के ज्ञानगिरितुंग से ।

वितना विचित्र प्रसंग है गीता के इस सहज प्रसवन का ! ऋषिमुनि और गुरुजन आश्रमा एवं अरण्या में ही ब्रह्मोपदेश करने की परम्परा का पालन करते आये हैं, परन्तु ना त दृष्टा एवं युग संचालक कृष्ण अब रणभूमि को भी ब्रह्मज्ञान के उपदेश की पुण्यस्थली बना देते हैं । नारायण जो वह ठहरे, वह गर के सुहृद हैं । इन्द्रपुत्र के प्रति कृष्ण सदैव मात्र इसलिए नहीं कि 'इन्द्र नरत्त्व, पौरुष या पराजय के देवता है या अतरिक्ष के देवता हैं, भीतरी उथल पुथल के देवता है' परन्तु इसलिए कि नर नारायण के प्रति उस उथल पुथल के कारण नत मस्तक है, प्रपन्न है, शरणागत है । अतः नारायण के मुख से गर के प्रति श्रीमद्भगवद्गीता का जो मोहक्षयी उपदेश प्रवाहमान होता है वह वस्तुतः युद्ध की विभीषिका में प्रवर्तित होने के कारण विजय का सामगान कहा जा सकता है । इसे युद्धोपनिषद् कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी क्योंकि नारायण स्वयं युद्ध में जय रूप से अभिव्यक्त होते हैं— 'जयोऽस्मि'— कृष्ण कहते हैं कि 'जय मैं स्वयं हूँ', जय मेरी विभूति है । (उपनिषद् का मूल अर्थ भी यही है कि गुरु शिष्य को अपने समीप गिठा कर ब्रह्मात्मीय के उपदेश द्वारा

उसके अहरार एव अज्ञानज य माहकलिल का हटा कर उसके जीवना म 'तत्त्वमसि' के सम्पर्कान की पूण प्रतिष्ठा कराये । अत अजुन के, युद्ध की भीषण विषमावस्था म मृत्यु के नगस रूप दर्शन से उत्पन्न, मोह और भ्रम को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण सारत ज्ञान भक्ति युक्त कमयोग का त्रिवाल अवा धित उपदेश देत ह । सबप्रथम, आत्मा की अमरता और दह की नश्यरता के मानवानुभवकी उपदेग द्वारा कृष्ण अजुन के देहबुद्धिजय माह का निवारण करते हैं । इसी माह निवारण चिकित्सा के प्रवाह मे कमयोग की लोकप्रसिद्ध चतु सूत्री प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

कमप्येनाधिकारस्ते मा फलेषु वदाचन ।

मा कमफल हेतुर्भूमा ते सङ्गोऽस्त्ववमणि ॥

2 47

'कम करन म तरा अधिकार है,' यह प्रथम सूत्र ह । कम वही है जिससे मानव मात्र के जीवन मे स्वतंत्रता, मानवीय श्रेष्ठता और धम की सही प्रतिष्ठा होती है । अत दात्रियोचित धम और कम यही है कि वह सत्य और मानवता की विरोधी शक्तिया द्वारा थाप हुए युद्ध का पूण मनोबल से सामना करे । इसलिए कृष्ण बलपूर्वक कहते हैं— 'युध्यस्य विगत ज्वर' — मोह रपी रोग को छाड कर युद्ध कर । कमयोग का दूसरा सूत्र है 'फल प्राप्त करने मे तेरा अधिकार नहीं है' अर्थात् स्वतन्त्र नहीं ह । कम करना मनुष्य के वश म है, कमफल मनुष्य के हाथ मे नहीं है । इसलिए युद्ध मे तुम्हे सिद्धि रूपी जय मिले या नही इसकी चि ता छोडकर आरापित और समागत युद्ध से पराडभुक्त मत हो, युद्ध कर । यह मानवोचित क्षत्रिय धर्म है, वीरोचित कम है । तीसरे सूत्र म कृष्ण कहते हैं 'काम के फल की वासना वाला न बन' । फनाकाक्षा ही कमसिद्धि मे सबसे बडी बाधा है । आकांक्षा राग द्वेष की जननी है । इसलिए राग द्वेष से अपने मोहित मन को 'फल हंतु' भाव से मुक्त करके— 'सङ्ग त्यक्त्वा'— युद्ध कम की सिद्धि मे कौन मरेंगे और कौन जीयेंगे की मात्रना को समत्व म स्थापित करत हुए— सिद्धयसिद्धयो समा भूत्वा कम कुरु— युद्ध कर । कमयोग का चौथा सूत्र है 'कम न करने म आसक्ति न रन— 'मा ते सङ्ग तु अकमणि' । अर्थात्, युद्ध तुम नहीं करना चाहते फिर भी कौरवाधिप दुर्योधन ने तुम पर युद्ध थाप दिया है, अब युद्ध न करने म आसक्ति करना हायरता है कत्तय से पलायन है । इस प्रकार स्वजगो के प्रति मोह के कारण तुम्ह धमयुद्ध से विमुख रही होना चाहिए । कम पालन के लिए युद्ध करना ही तुम्हारे लिए श्रेयस्कर है ।

अर्जुन के प्रश्न के उत्तर मे कृष्ण का गानयुक्त कमयाग प्रपाण उद्बोधन श्रेयस्कर की प्रतिष्ठा द्वारा मोहमदन का प्रथम चरण पूरा करता है । वेदव्यास

करता है कि जीवता म मत्स्यु क स्मरण य द ता म उत्पन्न नय को आदय स्थान
 दता चाहिए पर जय मत्स्यु जीवता का धारण करती छाती पर था जाय तो
 उगवा घोरचित्त स्थापन करता चाहिए । उगत दरो से कुछ नहीं जाता ।
 अग्य ही गय स मुक्ति का द्वार है । आ निर्गोचता स उपस्थित नय य माह
 का गान करता ही मनुष्य है ।

गितम् सविषातथ्य गायद् गय आगतम् ।
 आगत सु गय दृष्टया प्रह्लादस्य अमीनयम् ॥
 गी १०४ 140/33

जीवता को इस सही पहिचान स अजुन क माहृग्वर का ताप नम हा । लगता ह ।
 विवता का दीप मन्द है, पर बत्ती जल गई है । मण्ड बुद्धि की टांसाएँ निषिल
 क्षयर टूटती लगी ह । शृष्ण अब मोहापचार का दूगरा चरण आरम्भ करते हैं ।

अजुन क हृदय म, स्वय अपन प्रति शृष्ण सर्वेश्वर का भाव जगात है,
 कहत हैं कि यह लोभ गिर्य और सुगमर नहीं है, इसका नाश होता है और
 शृष्ण स्वय इस ब्रह्माण्ड क राजन, स्थिति और सहार के मूल म अक्षय सत्ता के
 रूप म विराजमान है— 'पिताहमस्य जगता माता धाता पितामह' ।

'प्रभव प्रलय स्थान निषात योगमव्ययम् । अपा सर्वलोक महेश्वर्य को अजुन
 के हृदय म प्रतिष्ठित करके शृष्ण अजुन के 'गिष्यस्तेऽह शाधि मा प्रपन्नम्
 गान को आर अधिन सुख कर रहे हैं ताकि जो कुछ ज्ञानोपधि का सवन क
 अब करायेंग उसकी ग्रहणशीलता और पचनात्मकता म मदो नहीं आय ।
 श्रीशृष्ण अजुन के माह के मूल पर गान भपज डालत ह, व माह के मूलाच्छेपन
 की प्रश्रिया का आरम्भ करत हुए कहत ह तू घम और अधम गय पुण्य और
 पाप को अधिक महत्ता न दे, क्याकि पुण्य से मनुष्य को जो स्वग प्राप्ति होनी
 है वह पुण्य क्षय क साथ ही विनष्ट हा जाती है और मनुष्य पुन मत्स्यु लोक म
 लौट आत ह— 'क्षीणे पुण्ये मत्स्यलोक विदिति' । इसलिए ह महाबाहो ।
 श्रेयस्कर ता यही है कि उन सब काया का सवया त्याग कर दना चाहिए जिनके
 पीछे काम, शोध और लोभ की मूल प्रेरणा हो ययोकि य तीना नरक के द्वार ह
 और आत्मा का नाश करने वाले ह ।

त्रिविध नरकस्यद द्वार नाशनमात्मन ।

काम शोधस्तथा लोभस्तस्मादतत्रय त्यजेत् ॥

और, हे अजुन ! तुम इस सत्य जाना कि अधम के वारण कौरवा का नाग हा
 चुका है, तुम्हे विश्वास न हो तो देखो ।

श्रीशृष्ण तुर त अजुन का दिव्य चक्षु देते हैं और अपना विराट रूप
 दिखाते हैं जिसे दख कर अजुन काप उठता है । उसकी दृष्टि के समक्ष एक

विशाल अग्नि ज्वाला प्रकट हाती है जिसमें नानाविध प्राणी चारा धार से आकर गिरते हैं और भस्म हो जाते हैं। उसी तरह समस्त वीरव भी कृष्ण के मुख में समा रहे हैं जैसे घात सहस्र नदिया का प्रवाह महादधि में घपा ऋतु में उमड़ उमड़ कर प्रवेश करता है।

पश्यामि देवास्तव देव देहे

अग्नी च त्वा घृतराष्ट्रं स्प पुत्रा
सर्वे सहैवावनिपालमघै ।

भीष्मद्रोण सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुदस्यै ॥ 11 26

वक्त्राणि त त्वरमाणा विशन्ति
दष्ट्राकरालानि गयानकानि ।

केचिद्विलग्ना दशनातरेषु
सहस्यते चूर्णितैस्तमाङ्ग ॥ 11 27

यथा नदीना बहवोऽम्बुवेगा
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।

तथा तवामी नरलोकधीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ 11 28

इस विकराल विराट रूप को देखते ही अर्जुन की चेतना जाग उठती है, वह श्रीकृष्ण को नमस्कार करता है, प्रायना करता है कि कृपया वह वतारों कि उग्र-रूप वाले कृष्ण कौन हैं— 'आरमाहि मे को भवानुग्ररूपा'— यह भी वतारों कि कृष्ण का तात्त्विक और आदि रूप क्या है ?— 'विनातुमिच्छामि भवात्त-माद्य'। इस प्रकार पूछे जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं 'हे अर्जुन ! मैं लोका का नाश करने वाला बड़ा हुआ महाकाल हूँ। इस समय लोका को नष्ट करने के लिए प्रकट हुआ हूँ। अतः जा प्रतिपक्षिया की सेना में स्थित हुए यादा लोग हैं, वे सब तारे बिना भी जीवित नहीं रहेंगे— 'ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे—अघातु सर्वका नाग हो जायेगा। वे मरे द्वारा पहल से ही मार दिये गये हैं— 'मयवैत निहता पूनमेव'—इसलिए उठ, शत्रुओं का जीत कर समृद्ध राज्य को प्राप्त करने हेतु तू केवल 'निमित्तमात्र भव'।

इस प्रकार कृष्ण अर्जुन को कौरवों के नाश का और पाण्डवा की विजय का अद्भुत दशन करा देते हैं। अर्जुन जान जाता है कि रा कृष्णा घममयता ही जीवन है और कृष्ण विमुक्तता मृत्यु ! फलतः अर्जुन का मोह भग होता है और वह कृष्ण को नमस्कार करता हुआ स्पष्ट शब्दा में कहता है कि वह उनके विना-

राल महाभृत्यु रूप का दया कर अत्यन्त भीत, हर्षित और आश्चर्यचकित हुआ गया है अतः यह श्रीकृष्ण निचतुमुज रूप के दशन का अभिलाषी है, भीत इस लिए कि वह वास्तव में इस दशन से कांपने लगा है, हर्षित इसलिए कि कौरवों का नाश और उनकी विजय अश्रयम्नायी एवं सुनिश्चित है, उमे तो केवल निमित्त बनना है उस विनाश के लिए, आश्चर्यचकित इसलिए कि वह प्रथम बार जानता है कि कृष्ण काल के भी काल महाकाल है अतः वह एव अनुसरणीय है। अजुन के निवेदन पर कृष्ण अपना सौम्य रूप दिवात है, घोरज वधात है और अततागत्वा कह देत है कि वह सत्र घर्मा का छाड कर मान उनकी अथात् कृष्ण की शरण ग्रहण करे। वह उसे सब पापों से छुटकारा दिला देगा—

सर्वं धर्मापरित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मां शुचः ॥

आश्चर्य हो जाता है अर्जुन इस अतिम उपदेश को सुन कर। उसके सार से देह मिट जाते हैं, अहंकार विगलित हो जाता है, जडता झड जाती है और आत्मज्ञान हृदय में उदय हो उठता है। अजुन शीघ्र कह उठता है

नष्टो मोहः स्मृतिलब्धा त्वत्प्रसादा मयाच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतः स देहः करिष्ये वचनं तव ॥ 18-73

गीता में अजुन के ये अतिम शब्द हैं, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, मननीय हैं।

अजुन कहता है 'हे अच्युत, आपकी प्रसादमयी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है, इसलिए मैं सशय रहित हुआ स्थित हूँ और आपके वचन का पालन करूँगा।'

'मेरा मोह विनष्ट हो गया है', ऐसा अजुन ने पहले भी कहा है—मोहाय विगता मम— ग्यारहवें अध्याय के प्रारम्भ में, ठीक पहले श्लोक में। परन्तु वस्तुतः उस समय अर्जुन को मले ही यह लगा होगा कि उसका मोह चला गया है परन्तु मोह का मूलोच्छेद तो अब हाता है जब वह इस कथन के साथ तीन बातें और जोडता है स्मृति लब्धा, स्थितोऽस्मि गतः स देहः और, करिष्ये वचनं तव। यह तीनों मोह के समूल नाश की प्राथमिक शर्तें हैं।

प्रथम शर्त है स्मृति प्राप्त हुई है। गुह्यतम तत्त्व को प्रकट करने वाली श्रीकृष्ण की परम हितकारिणी वाणी को सुन कर अजुन का अपन आत्मस्वरूप की स्मृति प्राप्त हाती है। यह विस्मृति ही मोह का मूल है। स्मृति की लब्धि स्वात्म योग कारक है, ससार वियोग कारक है। धमबोध कारक है, अधम नाशकारक है। प्राणी मात्र की आत्मा एक अखण्ड परमात्मस्वरूप है, अमर है परम पूण है। आत्मा की अमरता और शरीर की नश्वरता का सम्यक्बोध अजुन के हृदय में वस्तुतः अब उतरता है, पहले यह विलक्षण घटना घटित नहीं

होती। 'माहाजय विगतो मम' की बात जो उसने पूव म कही थी वट बेचल ऊपर ऊपर स मोहनाश का भाव था, वास्त्व मे स्वात्म स्मृति की सही और गहरी प्राप्ति म ही मोक्ष का सर्वो-मूलन है। इम प्रसंग मे औपनिषदिक श्रेत केतु की कथा श्रवणीय है। ब्रह्मविद्या के निरूपण मे अतत गुरु श्वेतकेतु से कहते ह— 'तत्त्वमसि श्वेतकेतु' अर्थात्, श्रेतकेतु तुम वही हो। श्वेतकेतु यह सब जान कर जब घर आता है तब पिता उमकी गव मरी गणी और अमृदुता की देख कर कहते हैं 'तू ने ब्रह्म को जाना या नहीं? ब्रह्मगा के त्रिा सब ध्यय है।' श्वेतकेतु उत्तर देते हैं 'यदि मेरे गुरु को पता होता, तो वे अवश्य ही मुझे सिखात। उन्होंने मुक्त हाय से ज्ञान दान किया। जो उह आता है, वह सब मुझे दिया है उहो।' और स्वय ही मुदमे उहाने कटा कि 'श्वेतकेतु, अब मरे पास तरे सीगने को कुछ गही बचा, अत्र तू घर लौट जा। पिताजी, वे कभी झूठ तो नहीं बालते।' तब उसके पिता उदालव उसे कहते हैं 'तो फिर तुझे मुझे ही सिखाना पडेया। जा, बाहर वृक्ष मे फल लगे हैं, वह तोड ला।' फल तोड कर लाये जाते ह।

उदालव सहज ही बोलत ह 'इह काट।' फल काटे जात हैं। बीज ही बीज भरे हैं। पिता कहत है 'कोई एव बीज इनमे से चुन ले। दता, क्या यह एव बीज इतना बडा वृक्ष हो सकता है?' श्वेतकेतु कह पडता ह 'पिताजी, हो सकता है नहीं, होता ही है। एव बीज वो देने से इनना बडा हो जाता है।' पिता पूछते है 'तो, इस बीज म वृक्ष छिपा होगा। तू बीज थो गी बाट। हम उस वृक्ष को खोज जो इसके नीतर छिपा है।' श्वेतकेतु बीज बाट देते ह, पर वहां वृक्ष नहीं है, कुछ भी नहीं है। वहां तो शून्य है। श्वेतकेतु कहत ह 'पितृ-देव, वहाँ तो मैं कुछ भी नहीं देखता हूँ।' उदालव मृदु और गम्भीर हास्य से कहते हैं 'जो नहीं दिखाई पड रहा है, जा अदृश्य है, उसी से यह महावृक्ष यह दृश्य, पैदा होता है। और हम भी उस अदृश्य सत्ता से आये है। प्रत्येक प्राणी मे परम सत्ता का वास है, पर अदृश्य है।' इस पर श्वेतकेतु प्रश्न कर बठता है 'क्या मैं भी उसी परम तत्त्व से आया हूँ?' इस प्रश्न के उत्तर मे ही उप निषदा का यह महावचन है 'तत्त्वमसि, श्वेतकेतु'। हाँ, श्वेतकेतु, तू भी वही से आया है, तू भी वही है।'

और कहते हैं, यह अमृत वचन सुनते ही श्वेतकेतु को स्वात्म बोध हो हो जाता है, 'स्मृति लब्धा' का यही रहस्य है। अर्जुन को श्रीकृष्ण के परम वचन सुनकर 'तत्त्वमसि' की स्मृति हो जाती है। सारी गीता इसी महावाक्य का दिव्योपदेश है, गानदान है जिसे माकर दिया गया है। और, जिसे सुनकर अर्जुन मोह से सवथा विनिर्मुक्त हो जाता है। मोह निद्रा मग होते ही वह

आत्मात य से अपने आगवो, कृष्ण की तरह, परिपूर्ण पाता है।

दूसरी शत है 'स्थितोऽस्मि गतसादेह'। यह मोहनाश की कसाटी है, फलरूप से, 'स्मृति लब्धा' मोह नाश की कारण भूमि है, ज्ञान रूप से।

सारे सदेह, स्मृति प्राप्ति से माहताश के फलरूप, नष्ट हो गये हैं। अब अर्जुन की बुद्धि स्वस्थ रूप से स्थिर और स्थित है— स्थितप्रज्ञ की अवस्था में आ जाता है अर्जुन। आत्मविस्मृति के अज्ञानाघकार में ही राशय और सदेह का प्रवरा वेग रहता है। श्रीकृष्ण के स्वरूप एवं अतुल सामर्थ्य की सम्मक स्मृति के शुभ प्रकाश में सब राशय ऐसे खो जाते हैं जैसे दीपज्योति के प्रज्वलित होते ही तिमिर का निरसन हो जाता है जैसे सूर्योदय के साथ ही रात्रि विदा हो जाती है रात के तारे धिमा हो जाते हैं। सब अनायास ही हटा जाता है, कुछ करना नहीं पड़ता स्थिर होने के लिए। अर्जुन पूर्णतया आश्वस्त है कि कृष्ण का सग ही विजय प्राप्ति की अटल गारण्टी है। अर्जुन कहता है मैं स्थित हो गया हूँ मेरी पत्नी निष्प्रम्प दीपशिखा की भाँति स्थिर है, अडिग है। तूफान आय, आंधियाँ उठें तो भी अर मरे भीतर कोई कम्पा नहीं। मैं स्वात्म स्थिति में प्रतिष्ठित हूँ।

तीसरी शत है 'वरिष्य वचन तव'। अब मैं आपके आदेश की प्रतीक्षा में अविचल साटा हूँ। आत्म योग में स्थित रह कर आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। मैं आपके हाथ में 'निमित्त' होकर बम करूँगा, आपके वचन पालूँगा गुरु काय में आदेशानुसार हाथ बटाऊँगा।

यही है अर्जुन की— शिष्य की— गुरु के प्रतिपूर्ण शरणागति का शुद्ध स्वरूप। इसमें सबसे रोचक रहस्य की बात तो यह है कि यह सब गुरु की प्रसन्नता व कृपा से घटित होता है— 'त्वत्प्रसादात्'। यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण कथन है कि 'आपकी कृपा से, हे अर्जुन! मैं स्मृतिमुक्त मोहनिहीन, गतस दह और स्थितप्रज्ञ हो गया हूँ।' इस निवेदन में अहंकार का विगलन स्पष्ट है। एक और बहुमूल्य तथ्य यह भी है कि ग्यारहवें अध्याय में भी अर्जुन अपने मोह नाश का निवेदन करता है—

'मदनुग्रहाय परम गुह्यमध्यात्मसन्तितम्

यत्त्वयान्त वचस्तेन मोहो य विगतो मम ॥ ११ ॥ ॥

इस प्रकार भगवान के वचन सुनकर बाला, हे भगवन्! मेरे पर अनुग्रह करने के लिए परम गोपनीय, अध्यात्म विषयक वचन आपने वह उससे मेरा अज्ञान नष्ट हो गया है। कृपा तो इसमें भी अर्जुन श्रीकृष्ण की मानता है पर कर्ता है कि उससे मेरा मोह नष्ट हुआ गया। मेरा और 'पराया' अहंकार का ही धोतन करता है। यह मोहनाश 'मेरे' का आभूषण बन कर आया है, अतः इस

म्यनि के लोट जान की शक्ता ह । परंतु अब जिस माहनास का निवेदन है, वह 'मि' के साथ है, जिसके मूल में कृष्ण कृपाजय आत्मस्मृति की प्राप्ति है— 'स्मृतिलब्धा' ।

सारासत, अर्जुन श्री कृष्ण की कृपा और अपने पूण समपण के प्रसाद से माहाणव से पार आत्म स्मृति के नित्यत्व में प्रतिष्ठित हो जाता है । यह सब उस प्रक्रिया के प्रवाह में होता है जिसके मूल में अर्जुन द्वारा, युद्ध की शिबीर में, देखा हुआ मृत्यु का नृशम और विकराल रूप है । अर्जुन का मृत्यु दर्शन गीतागान के प्रवाह का निमित्त बन कर मानव मात्र को सबट काल में नयी सूर्य और अभिनव साहस देने की सामर्थ्य से परिपूर्ण है । इसमें मानव के जय-पथ का पाथेय है, जय यात्रा की सिद्धि है । माह जय ही मनुष्य जीवन की मूल जोर बहुमूल्य जय है । मोह ही मृत्यु है और माहजय ही मृत्युञ्जयता है, सत्य जीवन की सिद्ध सामग्री है । निस्सन्देह, विजय मृत्यु मार्गिनी है ।

2 विदुर द्वारा घृतराष्ट्र को युद्धोपरांत नित्याया जाने वाला मृत्यु दर्शन निम्न रूप —

महाभारत के युद्ध की समाप्ति पर ज्याही घृतराष्ट्र को यौरवो के मव-नाण और अपन सौ पुत्रा के मार जान की सूना मिलती है और वह शोच ही शोक के घने मेघों से आनात, मूर्छित सा गिर पडता है, उसकी दशा अत्यंत दयनीय हो जाती है, जैसे समस्त शास्त्राजो के कट जाने पर वृक्ष की होती है । वह पुत्र शोक से सतप्त और विह्वल हो जाता है, घार पश्चात्ताप-दाह से जलने लगता है कि उसन महात्मा विदुर, भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य और श्रीकृष्ण के युद्ध रोकन और सचि द्वारा शांति सस्थापन के गम्भीर, लोकहितकारी और न्यायोचित परामश को नहीं माना, उसे पुत्रमोह के कारण स्वीकृति प्रदान नहीं की । सजय भरसक प्रयत्न करता है, घृतराष्ट्र को समझाने के लिए कि वह अब बीती हुई बात के लिए पश्चात्ताप न करें—'नातीत अर्थं वै पश्चात्तापेन मुज्यत' (स्त्रीपथ 1 35) । सात्वना दते समय सजय एक बड़ी बडवी बात कह देते हैं, समवत इसलिए कि कभी कभी घनीभूत मोह की, शोक की, जडता को काटने के लिए गहरा कड़ुआ सत्य ठीक वैसे ही उपयुक्त सिद्ध हो जाता है जैसे पीतरोग की जड मूल सहित विनष्टि के लिए कुटक की औषध बारबर हा जाती है । सजय कहते हैं 'जो मनुष्य स्वयं आग जला कर उसे बपडे में लेपेट लेता है और जलने पर मन ही मन सताप का अनुभव करता है, वह बुद्धिमान नहीं कहा जाता । पुन सहित आपने ही अपने लोभ रूपी घी से सींच कर और बचन रूपी वायु से प्रेरित करके पाथरपी अग्नि का प्रज्वलित किया था अब आप शोक छोडिये और बुद्धि से अपने मन को सुस्थिर कीजिये ।'—(स्त्री

पय 1 39 43) फिर उनके गीब निवृत्ति हेतु स्वयं महात्मा विदुर प्रयत्न करने आते हैं सात्त्विका देते समय वे काल रूपी युद्ध के अत्यन्त निमग्न और दुर्निवार रूप का दशन घृतराष्ट्र को दिखाने हैं हे मरतन दन ! क्षत्रियशिरामणे ! पात सब को पाता है धूरवीर को, धायर का, युद्ध करने वाले को, न करने वाले को, सुहृदा को, शत्रुओं को, यह किसी को नहीं छोड़ता । वह सब का अपनी ओर खींचता है— 'यम कपति' । तब आप व्यथ ही क्या शोक करते हो— 'यिमथमनुशोचति' ?

'हे कुरुश्रेष्ठ ! काल सभी प्राणियों को खींच लेता है, उसका न कोई प्रिय, न द्वेष्य । जैसे वायु तृण के अग्रभाग को चहुँ ओर हिलाती व झुकाती रहती है, वैसे ही काल समस्त प्राणियों को अवश करके अपने अधीन कर लेता है ।' विदुर का मृत्यु दशन यही है जो वह घृतराष्ट्र को कराता है—

काल कपति भूतानि सर्वाणि विविधायुत ।
न कालस्य प्रिय कश्चिन्न द्वेष्य कुरुसत्तम ॥
यथा वायुस्तृणाग्राणि सवतयति सवश ।
तथा कालवश याति भूतानि भरतपम ॥
स्त्रीपथ, 2 8 9

काल किसी को पहुँचे ल जाता है, किसी को वाद म । वह ल जाता है जरूर, फिर 'यथ व्यथा, विलाप, शोक क्या, किसलिए—'तन का परिदेवना' ? काल ही प्राणियों को पकाता है और उनका सहार करता है । काल सब के सो जाने पर भी जागता है, काल का उल्लघन करना अत्यन्त कठिन है

काल पचति भूतानि काल सहर्तते प्रजा ।
काल सुप्तेषु जागति कालो हि दुरतिक्रम ॥
स्त्रीपथ 2 24

यह मृत्यु के दुर्निवार और निमग्न रूप का दशन है । अटल है मृत्यु, वह विकराल रूप में आये या मद्दु रूप में, आती है वह जरूर ? देहधारियों को काल के उदर में तो पहुँचना ही है—'मरणात् च जीवितम्', 'सर्वेक्षयात्ता ।'

काल के समक्ष सभी असहाय हैं, सबथा विवग्न । कोई इसकी चपेट से नहीं बच सकता । काल के इस दुःसह दुर्निवार और निमग्न रूप के आगे सब के सब कितने अवग्न और निस्सहाय हैं, उसका घृतराष्ट्र को दग्ध बोध कराने के लिए विदुर मिट्टी के बत्तन की उपमा देते हैं और कहते हैं 'जस मिट्टी का बत्तन बनाये जाने के समय कभी चाव पर चढ़ात ही नष्ट हो जाता है, कभी कुछ-कुछ बनने पर कभी पूरा बन जाने पर, कभी सूत से काट देने पर कभी चाव से उतारते समय कभी उतर जाने पर, कभी गीली या सूखी अवस्था में,

कभी पकाये जाते समय, कभी आवो से उतारते समय, कभी पाक स्थान से उठा कर ले जाते समय अथवा कभी उसे उपयोग में लाते समय फूट जाता है, वैसे ही दशा देहधारियों के शरीर की भी होती है। कोई गम में रहते समय, कोई पैदा हो जाने पर, कोई कई दिनों का होने पर, कोई पन्द्रह दिन का, कोई एक मास का तथा कोई एक या दो साल का होने पर, कोई युवावस्था में, कोई मध्यावस्था में और कोई वृद्धावस्था में पहुँचने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।'

यथा च मण्मय भाण्ड चन्द्रास्तु विपद्यते ।

विचित्रप्रक्रियमाण वा कृतमात्रमथापि वा ॥

छिन्न वाप्यवरायण्तमवतीर्णमथापि वा ।

आद्रवाष्पयथवा शुष्क पच्यमानमथापि वा ॥

उत्तापमाणमापाकाद्बुद्धृत चापि भारत ।

अथवा परिभुज्यतमेव देहा शरीरिणाम् ॥

गमस्थो वा प्रसूतो वाष्पयथा दिवसान्तर ।

अधमास गतो वापि मासमानगतोऽपि वा ॥

सवत्सरगतो वापि द्विसवत्सर एव वा ।

यौवनस्थोऽय मध्यस्थो वृद्धो वापि विपद्यते ॥

स्त्रीपत्र 3 12 16

तात्पर्य यह है कि गर्भाधान के समय से ही मृत्यु का विधान लागू हो जाता है, जन्म के पूर्व गमपात द्वारा या जन्म के पश्चात् किसी क्षण कात जीवन का भक्षण कर सकता है। आयु काल का आहार है, वह मृत्यु के द्वारा इसे ग्रहण करता है। श्रीकृष्ण की गीता का वचन है 'जन्मने वाले का मरण निश्चित है, मर हुए का जन्म निश्चित है, मृत्यु अपरिहार्य है। अतः ध्रुव मृत्यु के लिए शोक करना व्यर्थ है, यह वदापि उचित नहीं। त्रिदुर भी घतराष्ट्र को बार बार यही समझा रहे हैं कि 'इस प्रकार मरना तो लोक जीवन की आदि रीति है, विस लिए फिर उनके लिए अनुताप किया जाये— 'एव ससिद्धिवे लोके किमर्थं अनुतप्यसे — (स्त्री पत्र 3 17) वस्तुतः 'जो प्रज्ञायान्, सत्त्वगुण में नित्य स्थित मानव जो सबका हित चाहने वाले और प्राणियों के इस समामगम को समझने वाले हैं, वे शोक मोह से परे निर्द्वन्द्व परम गति को पाने वाले होते हैं'—

ये तु प्राणा स्थिता सत्त्वे मसारेऽस्मिन् हितैपिण

समापमज्ञा भूताना ते यानि परमा गतिम् ॥

स्त्रीपत्र 3 20

जन्म और मरण जीवन सरिता के ही दो बूल हैं। यह जीवन वा शाश्वत सत्य है। इसे जानकर मनुष्य को शोक और मोह से ऊपर उठ जाना चाहिए। यही धर्मस्वरूप है।

महात्मा विदुर का यह उपदेश मोहानाश और शोकप्रस्त घृतराष्ट्र के लिए, घृतराष्ट्र जो अर्धास्यो दुर्योधन द्रुम के मूल हैं, कारगर माने सात्वना प्रदायक और शांतिप्रद सिद्ध होता है। वस्तुतः अधम ही अपमृत्यु का कारण होता है। महाभारत में घटित महानाश का अधर्म ही मूल कारण है। अतः सौ पुत्रों सहित ग्यारह अक्षौहिणी और पाण्डवों की शेष सात अक्षौहिणी सेना के सवनाग का प्रलयकर, महाक्रूर और निमग्न दर्शन घृतराष्ट्र के महामाह जय घनीभूत शोकतिमिर को दूर करने की क्षमता व्यक्त कर सका ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। यही सोच कर विदुर छोटे भाई होते हुए भी सात्वना के पूव मृत्यु के इस भयावह और दुःसह्य रूप का दशन घृतराष्ट्र को कराते हैं। मृत्यु दशन मोहनाश का एक सशक्त उपचार है, शोक हरण का सिद्ध साधन है, मनोजय माग का आध्यात्मिक पाथेय है। शोक सविग्न अर्जुन की तरह सतप्त घृतराष्ट्र भी मृत्यु के द्वार से सत्ताप-नाश और शांति के विनाय माग की यात्रा को सम्पन्न करता है, एव श्रीकृष्णोपदेश से और दूसरा विदुरोपदेश से।

3 युधिष्ठिर का मृत्यु दशन कार्यात्मक और मानवीय रूप

कुरुक्षेत्र युद्ध के पश्चात् छिन्न भिन्न असह्य मृत नरवीरा की रुधिर सनी तरकतुरय शव स्थली बन चुका है अनेक अनाथ और सनाथ योद्धा मरे हैं। घृतराष्ट्र कुत्तीन-दन युधिष्ठिर से उन सभी मृत वीरों की अत्येष्टि किया हेतु विधि अनुसार दाह सस्कार और प्रेत कर्म करवाने के लिए कहते हैं। शास्त्रोक्त विधि से उनका दाह क्रम कराय जान पर युधिष्ठिर आदि सारे कुरुवर्गज और कुरुकुलवधुओं के साथ अपन सभी मृत बाघव वीरों को जलाञ्जलिया देन के लिए पुण्यतीया भागीरथी के तट पर पहुँचते हैं। जब कुलपत्नियाँ अत्यन्त दुःखित होकर राते रोते अपने पुत्र और पतियों को जलाञ्जलियाँ दे रही होती है और पुरुष जन भी अपन सुहृदजनों को जलाञ्जलि देन लगते हैं, उस समय शोकाकुला कुत्ती असह्य व्यथा भरी मद वाणी से कह उठती है 'पुत्रा' जिसे अर्जुन ने परास्त किया है और जिसे तुम सूतपुत्र एव राधेय के नाम से जानते हो, जो सेना के मध्यभाग में सूय के समान प्रफणित होता था, उस महान् एव सत्यप्रतिष्ठा वण के लिए भी तुम लाग जलदान करो—कुरुष्वमुदक तस्य भ्रातु अक्लिष्टमण — वह तुम्हारा बड़ा भाई था। मगवान् सूय के जश से वह वीर मेरे ही गम से उत्पन्न हुआ था।'

'म हि च पूवजा भ्राता भास्करा मय्यजायत।'

रत्नाव 27 12

यस, यही है युधिष्ठिर के मृत्यु दशन की भूमिका। धरती तिसक गर्द पाण्डवों के पद तलों से, यह सुनते ही। आश्चर्यचरित और अश्रुप्रति, विनाप

परत हुए युधिष्ठिर वण एय अय सभी को जलदान करने के पश्चात्, पश्चात् ताप के दावानल में गिर पड़ते हैं। स्वयं अपने को धातू धात के अशम्य अपराध का कारण मान कर दुःसह वेदना में रो पड़ते हैं और कहते हैं 'मैं बड़ा पापी हूँ, मैं वण के शत्रु में डूब रहा हूँ, इस तरह जल रहा हूँ मानो किसी ने मुझे प्रदीप्त आग में ढकेल दिया है। मुझ इस पापी ने कुन्ती मातृत्व के रहस्य न जानने के कारण अपने बड़े भाई (वण) को मरवा दिया', ऐसा कहते हुए उहाने श्रापयुक्त शब्दों में इस आश्रय का अभिव्यक्ति दी कि 'आज से स्त्रियाँ के मन में कोई गुप्त रहस्य छिपा नहीं रह सकेगा'— अतो मनसि यद् गृह्यम् स्त्रीणां तन्न भविष्यति। (स्त्रीपर्व, 27 29) मुझे यदि यह पहले पता लग जाता कि वण मेरे अग्रज हैं तो कौरवों और अय लक्ष लक्ष वीर पुरुषों का महाविनाश रुक जाता। मैं धीरे पापी हूँ, मेरे ही कारण यह युद्ध और विध्वंस हुआ है', यह कहते हुए युधिष्ठिर अपने आपको मुक्त गठ से कोसते हैं, अपन दुर्भाग्य, कुलनाश और जन घन की हिसक हानि पर श्वा बरते हैं, और अपने क्षात्र बल और बुद्धि को धिक्कारते हैं—

धिगस्तु क्षात्रमाचार धिगस्तु बल पौरुषम् ।

धिगस्त्वमप यनमामापद गमिता वयम् ॥

स्त्रीपर्व 75

'धिक्कार ह क्षत्रियो आचार का, धिक्कार है ऐसे बल और पौरुष को, धिक्कार है इस अमप का जिसके कारण हम इस विपदा में पड़े।'

यह है धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा देला हुआ मृत्यु का तीसरा रूप, जो अत्यन्त कष्ट और मानवीय है। इस रूप के साक्षात्कार से युधिष्ठिर को स्पष्ट लगा कि 'सही बात तो यह है कि इस युद्ध में हमारे शत्रुओं ही की जीत हुई है, उही का मनोरथ सिद्ध हुआ है—अभिन्ना न समृद्धार्था, कौरवो वा प्रयोजन सो उनके जीवित क साथ ही समाप्त हो गया—वृत्तार्थां क्षुरय बिल। हम अमरों के घुहीन होकर आत्मीय जनो को मार कर अभी भी जीवित हैं, इसमें हमने कौनसा धर्म बनाया है, कैसा पुण्य अर्जित किया है ?

अभिन्ना न समृद्धार्था वृत्तार्थां क्षुरय बिल ।

आत्मानमात्मना हन्ता त्रि धमपन्नमाप्नुम ॥

स्त्रीपर्व 74

वस्तुस्थिति तो यह है कि 'हम उन कुत्ता के समान हैं जो मांस के लिए जीम लपलपाते रहते हैं—'आमिये गृह्यमातानाम् शुनामिव'। जिस दिन के लिए माता पिता जप तप, श्रत दान, पूजा पाठ करते हैं, ब्रह्मचर्य, सत्य भाषण, तितिक्षा आदि का साधन पावते हैं, ऐसी देवताओं की उपासना करते हैं इस

अमिताया से कि सत्तान होगी, युग देगी— वह दिन उनसे छिन गया, उनकी यह आत्मा छिन्न-भिन्न होई और यह सब हमारे कारण हुआ, यही दुनिया कहेगी, 'ययमवाप्त्य लोकास्य विनाशे कारण स्मता' । हमने दूरवीरा को मारा, पाप किया और अपने ही देश का विनाश कर डाला । यन्त्रुओ को मार कर भले ही हमारा शोध दूर हो गया हो, परंतु यह शोध मुझे निरंतर मतपत कर रहा है, रोष रहा है—

हता धूरा वृत्त पाप विषय स्वो विनाशित ।

हता नो विगतो मयु शोको मा दधयत्यम् ॥

रत्नोपकं 7 35 36

मैं ऐसा राज्य कैसे भोगू ? — 'त ममार्थोऽस्ति राज्येन भोगर्वा ।'

कितनी गहरी वेदना है युधिष्ठिर के अंत स्थल म । मानवीय स्नेह-दुःख ने माना व्याकुलता का रूप ग्रहण कर लिया हो । मानव मात्र के प्रति युधिष्ठिर की सहा समुत्पन्न होने वाली आत्मीयता अशुभार बन कर फूट पड़ी है, इसलिये नहीं कि वे मयातुर है पर इसलिए कि मानवीय संवेदना और अमय का प्रदाता धर्मराज विपुल हिंसा और मानव रक्तपात का श्रोत व सार्वदार पैस बन गया । वे युद्ध नहीं चाहते थे, उसे टालन का उद्धार हर समय प्रयत्न किया पर युद्ध जब अपस्थित हो जाता है तो वे स्थिर रहते हैं, युद्ध में भी वे स्थिर रहें, पर युद्ध के परिणाम से, और अपने ही अग्रज कर्ण के जोते जी स्वयं इसकी मृत्यु की अनभिज्ञता से कि वह प्रथम कौतेय था, उनकी सत्यपरक स्थिरता एक दम डगमगा जाती है । वे अर्धर हा उठते हैं । उनकी यह व्याकुलता किसी भय या स्वार्थ के कारण नहीं है, न ही वह मृत्यु की निममता के कारण है, वह केवल इस कारण है कि वे इस युद्धजय विध्वंस और विनाश में अपने स्वयं के मूल दायित्व का दशन करते हैं । अपना दायित्व मृत्यु के प्रति समझने के कारण ही वे अज्ञात, अत विक्षत और शोक सतप्त हो जाते हैं । उनका आनंदस्य प्रसरता की सीमा को छू जाता है और गहरे मानवीय कारण भाव में वहने लगती है उनकी संवेदनशील व्याकुलता । यह तो मानव मात्र की मृत्यु के भय से मुक्त करने वाली व्याकुलता का दशन है । और, यही गहरे अथ म महाभारत का उत्तमोपदेश एव उद्देश्य है तथा आत्मीयता मुक्त अमय दात इसकी आत्मा है—

अमय सबभूतभ्यो यो ददाति महीपते ।

स गच्छति पर स्थान विष्णो पदमनामयम् ॥

मृत्यु से अमय दान देने वाला विष्णु के अनामय एव परम पद की प्राप्त होता है । मृत्यु से अमय दान का मतलब है जीवन दान, जीवन प्रवाह में आन वा

भयप्रद क्षणा में घबरा, साहस और सूय के साथ समुपस्थित विपत्ति से निपट लेने का पान दान । चूँकि जीवन से अधिक प्रिय और पावन अथ कुछ भी नहीं है, इसलिए जीवन की रक्षा ही सबसे बड़ा धर्म है, दायित्व कम है । युधिष्ठिर मृत्यु से विचलित नहीं होते, बल्कि मृत्यु के प्रति अपने कर्तव्य के कारण व्यथित होते हैं । 'उनके लिए मृत्यु एक मानवीय परिस्थिति है, दुर्निवार नहीं, भयापह नहीं, करुण है, क्योंकि उसके आत ही कितनी आशाएँ, कितनी आकांक्षाएँ टूटती हैं, और मनुष्य अपने भीतर टूटन लगता है । महाभारतवार इसी रूप की सामने रख कर महाभारत की फल श्रुति द्वारा इसमें दिलासना चाहते हैं कि राज्य आदि छोटे मूल्य हैं, बड़ा मूल्य है जीवन और उसकी रक्षा । मृत्यु का आघात जिस करुणा के स्रोत को उद्वेलित करता है, वह करुणा ही सबसे बड़ी मानवीय निधि है ।' (परम्परा बचन नहीं, विद्यानिवास मिश्र, पृष्ठ 23) ।

मनुष्य के जीवन की पवित्रता को स्वीकार कर, जीवन की रक्षा करना ही 'आनंशस्य' है जिसकी ज्वलन्त अभिव्यक्ति युधिष्ठिर का करुणापूरित व्यक्तित्व है, उनकी नरोत्तमता का निरूपण है, मानव की नारायण में प्रतिष्ठित होने की सिद्ध पात्रता है । युद्ध की शस्य परिस्थिति इस अरण्य सत्य के लिए 'न मानुषात् परतर रिचिदस्ति — पिछवाई का काम करती है । यह जीवन का विराट और सनातन सत्य है कि नर म नारायण है, नर ही नारायण है आनंशस्य मानव की नर पद से नारायण पद की यात्रा का अनिवार्य द्वार है । नरोत्तमत्व विकसित करने में मनुष्य के जीवन में जो भीतरी और बाह्य विघ्न और विपमताएँ आती हैं, उनका समय प्रज्ञा और पराश्रम से सफल सामना कर लेना नर की विजय यात्रा का प्रथम चरण है, नरोत्तम से नारायण (धिष्णु-पद) रूप में विकसित और प्रतिष्ठित होना, और भाग में समुपस्थित विघ्ना पर फल प्राप्त करते हुए स्वयं विजय रूप हो जाना मानव जय यात्रा का दूसरा, महत्त्वपूर्ण और अंतिम चरण है । प्रथम चरण की यात्रा, एक बार, गुणारोहण की यात्रा है जिसमें मनुष्य सतोगुण में प्रतिष्ठित रहता है, और, दूसरी ओर, विराट विश्व में निराम करने वाले प्राणियों, विनोदकर मानव समुदाय के प्रति आनंशस्य सम्मत सनातन सत्य, प्रेम और करुणा भरी दृष्टि से अपने सद्ब्यवहार को 'बहुजनहिताय सुखाय' बना लेता है । दूसरे चरण की यात्रा गुणातीतारूढ होने की यात्रा है जिसमें नर नरोत्तम की सीमाओं से परे नारायण की अण्ड, अद्वय, चिन्मय परावस्था में नित्य प्रतिष्ठित, महर्षि वेद-यास या योरोपकर श्रोत्रुष्ण की तरह लोग सग्रह में निर्लिप्त रहता है । नर नारायण का रूप है, इस स्थिति का साक्षात्कार और उसमें अविचल प्रतिष्ठा ही मानव जीवन में इस यात्रा की परा गति है । स्वत्व को साकर सबल पाना इस यात्रा का पहला

पटाव है और मयूर का रर प्रतापमय म रम जाता ही पर म तारागणव का प्रताप है । तारागण मञ्जिम है । तत्र आदि विन्दु ।

अत एव है कि मानव अपनी सीमाओं का उपयुक्त मापना द्वारा अति प्रमण करता हुआ तारागण की विन्गीमता को दूर जाता है, पा सेता है, प्रेम से प्रकट भी कर सकता है । यह अतिप्रमण द्विविध होता है भीतरी और बाहरी । अथ भीतर या स्वात्म्य तारागण (आत्म रूप) के साक्षात्कार द्वारा मानव स्वयं म पूण तृण, आश्रयस्त और एकीकृत हो जाता है, तबस्व नारायण (त्रियाम रूप) के साक्षात्कार द्वारा मानव पूण मनुष्य, स्वस्थ और तब मे एरीभूत हो जाता है । प्रथम अतिप्रमण म मनुष्य अपन आंतरिक दोषस्य, दल बुद्धि और दोग दृष्टि पर आत्म तपति और यद्दृष्टि की विजय यात्रा पूरी करता है, दूसरे अतिप्रमण म यास्य ताम र्पात्मक अयरोपा और अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितिया के पीछे त्रियामील अदृश्य तारागण की सत्ता के सतत द्वात द्वारा मानव अपने अहंजय पाधजय यात्रे व्यक्तित्व को विराट प्रवृत्ति की वेदि पर स्थाहा करता हुआ सर्वारम दृष्टि की स्वात्म दृष्टि पर विजय की यात्रा सम्पन्न करता है । इस तरह तबत्र, तबकाल तारागण दृष्टि के पनप जाने पर अतजगत् (स्व) आर यात्र जगत् (पर) की भेद बुद्धि का विलय और अभेद बुद्धि ता अम्युक्त हो जाता है । और, मानव अनरहे क्षणों म श्रीकृष्ण व इन यात्रा की सत्यता का मधुर और दि य अनुभव कर लेता है—

यो मा पश्यति तबत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याह न प्रणश्यामि स त मन प्रणश्यति ॥

गीता G 30

अत अन्नन सम्भावनाएँ हैं मानव मे विद्याम की, और नारायण सम्पूण विकास की छोरहीन सीमा है । मानव उसमे रत और रमणशील होन की सामर्थ्य का पूण धती है ।

मानव जीवन की श्रेष्ठता, सिद्धि और सायकता इसी आत्मरमण मे है जिसकी मञ्जिल नारायण है । नर यात्री है इस मञ्जिल का, मानव मात्र का अधिकार है इस स्वधाम, परम धाम, म आ रहने का । यह अतमुखी जययात्रा का तोरण द्वार है, समस्त द्व द्वो से परे । परंतु उन्ही मे से होकर वही पहुँचना पडता है । यह है मानव की जय यात्रा का भीनरी द्वार ।

दुश्शेन का महायुद्ध विजय का बाहरी द्वार

जय यात्रा का बाहरी द्वार अत्यंत स्थूल है, भयावह और महाविनाशकारी युद्ध जय द्वार । इसमे देश देशों की सयुक्त सेनाएँ दो पक्षों मे बँट कर परस्पर युद्ध मे मरने मारने रणाङ्गण मे पराजम और शीय से लड पडती हैं ।

युद्ध के कारण और परिस्थितियाँ अनेक हो सकती हैं, परन्तु इनके पीछे भीषण सैद्धान्तिक मतभेद, स्वायत्त-पूण वैमनस्य, अध काम जय वैषम्य, सीमा विस्तार आदि से उत्पन्न मतभेद और उपवादिता का प्राधान्य प्रायः रहा करता है। परन्तु हर पक्ष अपने पक्ष को ही मान्योचित और बहुमङ्गलकारी मानता है, और उसी पक्ष के प्रबल प्रचार से अनेक राज्य रणोद्यत दो परस्पर विरोधी पक्षा में बंट जाते हैं। व्यासकृत महाकाव्य में कौरव पक्ष और पाण्डव पक्ष राज्याधिकार के प्रश्न को लेकर युद्ध में विजयाथ प्रवेश करते हैं। परन्तु प्रधानतः घम और अधर्म को लेकर ही यह प्रश्न व्यक्त हो रहा है।

कौरवों की ओर ग्यारह अक्षाहिणी सेना इकट्ठी होती है, जिसमें अनेक राज्यों के राजे महाराजे कौरव नरेश दुर्योधन के समर्थन में संयुक्त होते हैं अतुल पराक्रमी और अजेय पितामह भीष्म कौरव सेनाध्यक्ष पद पर अभिषिक्त होते हैं और उनके नेतृत्व में बड़े बड़े रथी, महारथी, अतिरथी कौरव सैन्य संचालन करते हैं—केवल सूयनन्दन वण को छोड़ कर। अप्रतिम तप और तेज वाले प्रथित द्रोणाचार्य, आचार्य कृप, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, महाराज धन्य, सैधव नरेश जयद्रथ, कलिङ्गराज, निषाद राज, अघ्निराज, शक्रमाकेतुमान्, भानुमान्, राजा धृष्ट, दुःशासन समेत दुर्योधन के सब माई, लक्ष्मण राजा अलम्बुष, कृतवमा, भगदत्त, कौशल नरेश वृहद्वल, चित्रसेन, त्रिगर्तसुशर्मा, सुशप्तकराज सुषवा, मामा शकुनि और उसके पुत्र महाबली अम्बुवाह्यीव, आदि अनेक गौरवीर कौरव सेना के गौरव और मोर्चल को बढ़ाते हैं।

पाण्डवों के महाराज युधिष्ठिर का पक्ष सत्य, मान्योचित न्याय और शान्ति का प्रबल पक्ष है, वे अपने पैतृक उत्तराधिकार के अंतर्गत राज्य प्राप्त कर इच्छुव हैं, शान्ति द्वारा ही राज्य प्राप्तयथ किये गये समस्त प्रयत्ना सनया विफल हो जाने पर ही वे अततोपत्या धादव राजवश भूषण श्रीकृष्ण न्याय और नीतिप्रिय नेतृत्व में युद्ध करने पर विवश और उद्यत हो जाते उनकी आर से केवल सात अक्षाहिणी सेना एकत्रित होती है, पाण्डवा ५ द्रुपद अपने यज्ञोत्पन्न पुत्र धृष्टद्युम्न के साथ पाण्डवों के पक्ष में सट्टे ह, विराट भी अपने बली एव यादवा पुत्र उत्तर, दाग और शिशुण्डी के साथ आये राजा सात्यकि दुरावान्, राजा नील, भातवराज, चेदिराज, पीरवः मुषामयू, उत्तमोगा आदि पाण्डवा की ओर से कौरवों के विरुद्ध युद्ध में हात है।

कौरव-पाण्डवों का देग-व्यापार 'महामारत' नामक महाग्रन्थ अठारह तम अध्याय है जिसमें दागों की सेनाएँ मर सप्त जाती हैं, केवल 10:

जीवित वचन हैं। 'महाभारत' महाकाव्य में इस युद्ध का वास्तविक विशद विवरण पाँच पत्रों में प्राप्त है भीष्मपर्व, द्रोणपर्व, कर्णपर्व, शल्यपर्व, और शौप्तिकपर्व। भीष्मपर्व में प्रथम दस दिनों का घोर विष्वक्कारी युद्ध और भीष्म के अद्भुत पराक्रम और उदारचित्तता का विवरण है। युद्धागम्य के पूर्व धर्मराज युधिष्ठिर अपना रथ से उतर कर भीष्म पितामह के रथ की तरफ पैदल ही कौरव सभा के मध्य में से होकर जाते हैं। भीष्म, अर्जुन आदि का यह आचरण अच्छा नहीं लगता है पर श्रीकृष्ण इस औचित्य को अत्यन्त सोमनीय बताते हैं। युधिष्ठिर युद्ध की मयावह वेला में भी गुरुजना का प्रणाम करना नहीं मूलतः, यह उनके धर्मपालन की परावाप्ता है। भीष्म उन्हें आशीर्वाद देते हैं, वे अपने पौत्र युधिष्ठिर के इस शील और शिष्टाचार का देगकर पुलकित हो जाते हैं और कह उठते हैं, 'वत्स, तुम्हारी विजय हो।' कृष्ण जिसके सहायक हैं, विजय उसी की होगी।'

घृतराष्ट्र का पुत्र युयुत्सु युधिष्ठिर के इस विनम्र आचार को देख कर इतना प्रभावित और प्रसन्न हो जाता है कि वह कौरव-सभा छोड़कर उसी समय पाण्डवों से जा मिलता है। युधिष्ठिर उन्हें गले लगाता है, यह पाण्डवों की जय यात्रा का शुभारम्भ है।

युद्ध के प्रथम दस दिन भीष्मपर्व

शङ्खनाद के साथ मयानक युद्ध आरम्भ हो जाता है। सनाएँ सेना-जा से टकराती हैं, हाथी से हाथी, घोड़े से घोड़े, पैदल से पैदल। वीरों की सिंह गजना, शङ्खों की तुमुल ध्वनि, रणभेरी के मँरव नाद घनुषा की टकार, हाथिया का चिंघाडना, घोड़ों का हिनहिनाना, रथों का घघरनाद, सब मिल कर आकाश को प्रलयकारी कोलाहल से गुंज रहे हैं। पताकाएँ फहरा रही हैं, गदाधर मिड रहे हैं, घनुर्धरा का हस्तलाघव दखते ही बनता है। प्रथम दिवस के युद्ध में भीष्म के रण कौशल और मयानक प्रहारा से पाण्डव सेना की अत्यधिक क्षति होती है। अर्जुन के शस्त्र संचालन की अद्भुत शक्ति, भीष्म के पराक्रम और अर्जुन के शीघ्र के उपरान्त भी कौरवों का युद्ध में पलड़ा बहुत भारी रहता है। विराट कुमार उत्तर रणाङ्गण में वीर गति पाते हैं। युधिष्ठिर को विपाद होता है। परंतु दूसरे दिन के युद्ध से सातवें दिन तक पाण्डवों का पराक्रम दुर्घोषन के लिए हतात्साही सिद्ध होता है। वह घबरा जाता है और भीष्म पितामह का कोसता है, उन पर पाण्डव पक्षी हान का व्यगारोपण सहित आरोप लगाता है। वह कहता है, 'पितामह! पाण्डवों के प्रति आपके मन में स्नेह है, इसलिए आप हृदय से उन्हीं की जीत चाहते हैं और आप जी लगाकर युद्ध नहीं करते।' महारथी भीष्म को दुर्घोषन के वचन अच्छे नहीं लगते, वे

रोप में कह देते हैं, 'दुर्योधन ! मैंने तुमसे पहले ही कहा था कि पाण्डव अजेय हैं वे विपत्तियों से विचलित नहीं होते' उनमें अपार धैर्य है। फिर भी मैं तुम्हारे लिए भीषण युद्ध करता हूँ और करूँगा। चिन्ता छोड़ दो।' —बहुभोजसि मया राजस्तथ्यमुक्ती हित वच । अजेया पाण्डवा युद्धे देवैरपि सवा सर्व (भीष्म पव, 58 43) ।

भीष्म प्रबल वेग से पाण्डवा पर प्रहार करते हैं, सभी कारव चीर पुर-जोर रणचातुर्य बटाते हैं, दोनों ओर सेना की अपार क्षति होती है, परन्तु युद्ध में प्रतिदिन पाण्डवा का पक्ष उत्तरोत्तर प्रबल होता जाता है, लगता है विजय उन्हीं को मिलेगी। बड़े बड़े योद्धा मार डाले जाते हैं। घटोत्कच के विकराल और विध्वंसकारी प्रहारा से कौरव क्षति देख कर दुर्योधन एकदम घबरा जाता है। अत्यन्त सतप्त और बेचैन हाकर वह कण के पास सहयोगाय जाता है, परन्तु भीष्म के साथ विद्वेष के कारण वह युद्ध में भाग नहीं ले रहा है। दुर्योधन कण से कहता है, 'द्रोण, भीष्म, कृप, शल्य और सौमदत्ति के होते हुए भी पाण्डवों का पराक्रम कम नहीं हो रहा है। उनकी गति और शक्ति बढ़ती ही आ रही है। मैं इसका कारण समझ नहीं पा रहा हूँ।' (भीष्मपव, 97 4) । 'तुम युद्ध से भूह भोड़े हुए हो, इसी से मेरी पाण्डवा स पराजय हो रही है — 'त्वयि युद्ध विमुखे चाऽपि जितश्चास्मि हि पाण्डवै' (भीष्मपव, 97 5)। प्रत्युत्तर में कण कहता है 'भीष्म शान्तनवस्तूष्णमपयातु महारणात् — भीष्म यदि युद्ध से हट जाये तो मैं अकेला ही पाण्डवों को परास्त कर दूँगा—

यस्त हस्ते ततो भीष्मे निहतान् पश्य पाण्डवान् ।

मयैकेव रणे रानन् सुसहृदगण वाधयान् ॥

भाष्मपव 97.3

कण के इन वचनों को सुनते ही दुर्योधन द्रुत गति से भीष्म पितामह के पास जाता है और स प्रणाम कहता है 'पितामह, आप विश्व के सर्वश्रेष्ठ योद्धा हैं। आपसे देवता भी हार मानते हैं, परन्तु आप पूण मनोयोग से युद्ध प्रहार नहीं कर रहे हैं क्याकि आपके हृदय में पाण्डवों के प्रति अपार स्नेह है। यदि आप भीतर ही भीतर पाण्डवा का समर्थन कर रहे हैं तो आना दीजिए, मैं कण की सेनापति बना दूँ। अपनी सेना के सहार से मैं बेचैन हो उठा हूँ।' भीष्म स्वार्थी दुर्योधन की यह बात सुनकर दुःखी होते हैं और वे उसे कहते हैं 'वत्स, तुम्हारी बुद्धि अन्ध हो गई है। योद्धा अथ तन धैर्य से युद्ध करता है। पाण्डव सेना की भी अपार क्षति हुई है। परन्तु उनमें धैर्य और सहन शक्ति है जो तुम में नहीं है। तुम स्वाध के मोह में जान ही नहीं पा रहे हो कि क्या कहना चाहिए और क्या नहीं—'त्व मोहात्प्र जानीप वाच्यावाच्य मुयोषा'—रही कण

वा सोपापति अग्निपित्त करने की बात यह ता तुम जान ही चुके हो कि न यह राज चित्ररथ और विराट नगर के आश्रमण के समय उसकी क्या गति हुई थी। यह तो प्राण रक्षाथ भाग ही गया था तुम्हें छोड़ कर। मैं यह अच्छी तरह से जानता हूँ कि वासुदेव की शक्ति अनन्त है, उनमें सृष्टि के सहार करने की क्षमता है। वे सर्वेश्वर देवाधिदेव हैं—

वासुदेवोऽनन्त शक्ति सृष्टि सहारकारक ।

सर्वेश्वरो देव देव परमात्मा सनातन ॥

भीष्मपर्व 98 15

फिर भी मैं तुम्हें बहता हूँ 'बुद्धान समरे प्राणस्तवयं प्रियवाम्यया' कि तुम्हारी प्रिय कामना के लिए मैं रणाङ्गण में प्राण होम दूंगा। हे गांधार! जाओ रात्रि बढ रही है, सुत से सो जाओ। कल मैं ऐसा भीषण युद्ध करूंगा जो पृथ्वी में अमरता प्राप्त करेगा जिसे लोग देखेंगे और देखत ही रह जायेंगे।' (भीष्म पर्व, 98, 5 से 16)

नवें दिन भीष्म भयवर युद्ध करते हैं। असह्य वाणा की ऐसी भीषण वर्षा करते हैं कि अर्जुन का नदिघोष रथ और सारी पाण्डव सेना उनसे आच्छादित हो जाती है, अर्जुन घायल हो गिर जाते हैं, कृष्ण के अग प्रत्यग विघ्न जाते हैं, धाडा की गति रुक जाती है। अर्जुन की इस दुरावस्था में कौरव सेना अति उत्साह से बढ़ती हुई हजारों पाण्डव सैनिका को यमघाट दिया देती है। इस स्थिति वैषम्य को देख, चिन्तातुर कृष्ण अपनी प्रतिभा मूल कर आवेश से रथ में से कूद पडत है और टूटे रथ के एक चक्र को उठाकर भीष्म को मारने के लिए दौड पडत हैं। कृष्ण के इस रूप को देख कर आहत अर्जुन शीघ्र रथ से उठ, कूद पडता है और कृष्ण के परा से लिपट जाता है। शस्त्रधारी कृष्ण के तेजोमय दिव्य रूप को देख कर भीष्म भी भाव भक्ति के आवेश में उनकी स्तुति करने लगते हैं। सध्या की इस बदना के साथ नवें दिवस का चिर स्मरणीय युद्ध समाप्त हाता है।

सभी पाण्डव इस रात विषण्ण हैं। युधिष्ठिर मात्रणा करते हैं कि युद्धा रम्भ के पूर्व भीष्म ने युधिष्ठिर को आशीर्वाद देते हुए कहा था कि 'मैं युद्ध तो कौरवों की ओर से ही करूंगा, परन्तु तुम अपने लिए मुझ से सलाह ले सकते हो। —मन्त्रयिष्ये त्वार्थाय, न तु धोत्स्ये कयञ्चन।' क्यों न फिर उही स उन पर विजय प्राप्ति का उपाय पूछ लें? कृष्ण सहित पाँचा पाण्डव भीष्म के पास सानुनय पहुँचते हैं और पूछत हैं—'कथं जयेम सवन?' हे सर्वेन हम जय कैसे प्राप्त करें कृपया बताइये। क्याकि आपको परास्त करना किसी के बस की बात नहीं है। कौरवों की विजय असत्तम की विजय है। उससे देग मत

घम आर सत्य वा लोप हो जायेगा । (भीष्मपर्व, 107 61-70) । सुन कर भीष्म कहते हैं 'युधिष्ठिर तुम ठीक कहते हो । जब तब मैं जीवित हूँ, तब तब कीरव पक्ष अजेय है । परंतु सत्कार का यह रहस्य देखो कि मुझे वह पक्ष ग्रहण करना पडा है, जो असत्य है । मेरे लिए यह लज्जा की बात है कि मेरी आसो के सामने सत्य की मयादा अमुष्ण न रहे । अत मैं अपनी मृत्यु का रहस्य बताता हू । तुम्हारे पक्ष में द्रुपद का बेटा शिखण्डी पूव जन्म का स्त्री है । उसने मेरे घम के लिए शिवजी की तपस्या की थी । यद्यपि उसने एक दानव के वरदान से पुरुष रूप प्राप्त कर लिया है, तथापि उसका स्त्रीत्व नहीं गया है । यदि उसे सामने करके अजुन मुझ पर तीर चलायेगा तो मैं अस्त्र नहीं चलाऊंगा और मेरा गिरना अवश्यम्भावी हो जायेगा । —'अर्जुन समरे 'पुर पुरस्वृत्य शिखण्डिनम्' (भीष्मपर्व, 107 82), 'मा पातयतु वीमत्सुरव तव जयोध्रुवम्' और मेरे गिरने पर तुम्हारी जय निश्चित है, ध्रुवम् है (भीष्मपर्व, 107 87) ।

दमकें दिन का युद्ध इस महायुद्ध का सबसे भयकर युद्ध है । भीष्म के प्रचण्ड और असह्य आश्रमण और प्रहारो के सामने पाण्डव सेना तितर बितर हो जाती है । आज महामृत्यु महोत्सव मना रही है । ऐसी विनाशकारी विष रालता को देखकर युधिष्ठिर अत्यंत दुःख एव अघोर हो उठते हैं । पर शीघ्र ही द्रुपद पुत्र शिखण्डी रथारूढ होकर सेना को चीरता हुआ भीष्म पितामह के सामने रणमुद्रा में उपस्थित हो उठता है । अर्जुन इसी रथ में पीछे बैठा है । भीष्म के शस्त्र संचालन की प्रक्रिया रुक जाती है, परंतु अजुन के तीक्ष्णतम बाण प्रहारो से भीष्म का अग प्रत्यग एकदम छलनी हो जाता है । वे गिर पडते हैं, पर पृथ्वी पर स्पश नहीं होता, वे तीरा की शय्या पर पडे हैं । क्षेपणाग की शय्या पीडाप्रद नहीं, शर शय्या अतीव कष्टदायक है, परंतु भीष्म उस पर पडे है ।

भीष्म के गिरते ही दोनो दलो में हाहाकार मच जाता है । युद्ध बंद हो जाता है । कीर्यराज और पाण्डव सभी शोक सतप्त भीष्म की शय्या के समीप चरणा की तरफ खडे हो जाते हैं । महावीर वण भी अपनी शत्रुता को भुला कर वहाँ आ जाता है । भीष्म को वह प्रणाम करता है । इस पर वे वण को आशीर्वाद देते हुए कहने हैं 'वण ! तुम मुझे सदा प्रिय ही लगे हो, केवल मर्यादा पालन हेतु ही मैं अवसर पडने पर कुछ तीक्ष्ण वचन कहे हैं । तुम धीर हो, तुम इस युद्ध को रोक सकते हो । दुर्योधन समझता है कि तुम्हारी सहायता से वह विजयी होगा, लेकिन अजुन को पराजित करना सम्भव नहीं है अत भीष्म सन्धि करके युद्ध को रोक तो—'सन्धिभवतु मा चिरम्' । वण वर

देते हैं 'पितामह'। अब सघष बहुत दूर तक पहुँच गया है। मुक्ष राधेय को दुर्योधन ने अगराज बना कर गौरवान्वित किया है। जैसे कृष्ण अर्जुन का साथ नहीं छोड़ सकता, वैसे मैं भी दुर्योधन का साथ कभी नहीं छोड़ सकता। पाण्डव तो आपके भी पौत्र थे, आपने उनके विरुद्ध शस्त्रास्त्र क्यों उठाये? आप भी तो कौरवों को समझा सकते थे। अब मैं आपका उपदेश कैसे मानूँ (भीष्म पत्र, 122 24-25)।' यह कह कर कण तो अपने शिविर की ओर चला जाता है।

युद्ध के अगले पाँच दिन, 11 से 15 द्रोणपर्व

महामारत के ग्यारहवें दिन युद्ध का संचालन कौरवों की ओर से द्रोणाचार्य करने लगते हैं और पाण्डवों की ओर से घृष्टद्युम्न। कण भी अब युद्ध में प्रवेश करता है।

द्रोण व्यूह रचना के दक्ष आचार्य हैं। इन पाँच दिनों में विविध प्रकार के दुर्मोक्ष व्यूहों की संरचना से युद्ध का स्वरूप ही बदल जाता है। दुर्योधन का एकमात्र लक्ष्य युधिष्ठिर को बँदी बना कर पाण्डवों की आत्मसमर्पणाथ विवश कर देना है। अतः युधिष्ठिर को किसी प्रकार अर्जुन से दूर करना अनिवार्य है, ऐसी मन्त्रणा करके यह दायित्व त्रिगर्तों ने सुशर्मा और ससप्तका को सौंपा जाता है कि वे अर्जुन को युद्ध में आकृष्ट करके युधिष्ठिर से बहुत दूर ले जायें क्योंकि अर्जुन की विद्यमानता में कोई भी युधिष्ठिर को न घेर सकता है, न पकड़ सकता है।

द्रोण के इस मत में यों कृष्ण पहले से ही अनुमान से जान लेते हैं। अतः उनकी दृष्टि में युधिष्ठिर की सुरक्षा ही सर्वोपरि लक्ष्य बनता है। युद्ध की भयकरता एवं दुष्करता अब घनी हो जाती है, परन्तु द्रोण के महारथी न तो ग्यारहवें दिन और न ही बारहवें दिन युधिष्ठिर को बँदी बना पाते हैं। उठते महाभट्ट प्राग्ज्योतिष के राजा भगदत्त अर्जुन के हाथों यमलोक पहुँचा दिये जाते हैं। अर्जुन त्रिगर्त सेना नष्ट करके लौटे, उनके पूर्व द्रोण पूण वेग से युधिष्ठिर पर आक्रमण कर देते हैं। युधिष्ठिर के अग्ररक्षक सत्यजित अचूक शर प्रहार से द्रोण के रथ के पहिये काट देता है, घोड़े मार गिराता है और द्रोण का आक्रमण विफल हो जाता है। आक्रोश में द्रोणाचार्य अर्द्धचंद्र बाण से सत्यजित को मार गिराते हैं। उसी क्षण अर्जुन नौट आता है और बारहवें दिन का युद्ध भी समाप्त हो जाता है।

तेरहवें दिन द्रोण छ महारथिया सहित एक अभेद्य व्यूह की रचना करते हैं जिस समय ससप्तकों को छेदेइते हुए अर्जुन बहुत निवज कर अनुसेना द्वारा धारा धार में पिर गया होता है। अर्जुन पुत्र अणिमामु ही एकमात्र एमा बाल

धीर है जो चक्रव्यूह भेदन तो करना जानता है, परन्तु उसमें से वापस सुरक्षित लौट आना उसे नहीं आता। अग्निमयु व्यूह में प्रवेश करता है, सभी छ द्वारों को भेद कर क्रमशः जयद्रथ, द्रोण वध, अश्वत्थामा, दुःशासन दुर्योधन पुत्र लक्ष्मण को पराजित कर वह व्यूह के सप्तम द्वार पर जा पहुँचा है। वहाँ साता महारथी एवं साथ मिल कर घमयुद्ध विरोधी नीति को अपना कर अनाय और छल से अग्निमयु को घोर युद्ध करत हुए मार गिराते हैं। बस यही से महाभारत का युद्ध घम के आधार को छोड़ कर छल छद्म और स्वाथ को विजय का अनिवाय तत्त्व स्वीकार करके आगे बढ़ता है।

द्रोण के सेनापतित्व में इस महायुद्ध का चरित्र परिवर्तन आगे होने वाली समस्त सामरिक घटनाओं का निवृत्त बन जाता है।

द्रोण वध की घटना को ही लीजिये। महाभारत में द्रोणवध के समग्र अध्ययन से द्रोणवध के औचित्य की कमीटी प्रकट होती है। द्रोण के वीरव सेनाध्यक्ष बनते ही पाण्डवों की सेना के अध्यक्ष पद पर घृष्टद्युम्न नियुक्त किया जाता है क्योंकि द्रोणाचार्य राजा द्रुपद के द्वेषी हैं और द्रोण वध हेतु ही स्वाम यज्ञ द्वारा द्रुपद ने साक्षात् अग्नि देव से वरदान के रूप में, अग्नि से ही उत्पन्न, घृष्टद्युम्न नामक पुत्र का प्राप्त किया है। यह तथ्य द्रोण को विदित है। अतः घृष्टद्युम्न को अपने सामने पाण्डव सेनाध्यक्ष के रूप में देखते ही द्रोण भीति और आक्रोश से घिर जात हैं। भीति इसलिए कि घृष्टद्युम्न उनके लिए मृत्यु रूप बन कर खड़ा हुआ है, आक्रोश इसलिए कि उन्हें अब पुरजोर से पाण्डव सेना का शीघ्र संहार करना है। अतः द्रोण घोरतम क्रम और भयकर युद्ध का श्रम उपस्थित करत है। अग्निमयु के निमग्न और छलपूर्ण वध में सब महारथी सम्मिलित थे, द्रोण भी, परन्तु जयद्रथ इनमें सबसे आगे और प्रधान हतयारा था। चौदहवें दिन जब अर्जुन को प्रतिज्ञा और भीषण पराक्रम द्वारा द्रोणाचार्य की विकट व्यूह रचना के उपरांत भी, जयद्रथ मार डाला जाता है तब दुर्योधन के वटाक्ष द्रोण के लिए असह्य हो जाते हैं। फलस्वरूप, द्रोण अत्यन्त विकराल रूप प्रकट करते हैं, युद्ध तरह दिव्य अस्त्र दारुणों का प्रयोग करते हैं जिनका प्रयोग मानव वीरों पर करना सबथा निषिद्ध है। आज भी युक्तिपर वाच्य के परीक्षण व प्रयोग पर मात्र इसलिए प्रतिवध लगाने के अन्तर्राष्ट्रीय सुभाव प्रस्तुत और स्वीकृत होते जा रहे हैं कि इनका किसी भी आक्रोश व प्रोत्तेजना जय परिस्थिति में प्रयोग महामानवता के अचित्य एवं घोर महा विनाश का कारण बन सकता है। परन्तु द्रोण के भ्रातृ एवं शोषाश्रान्त चित्त मानव हिन और मानवीयता की रक्षा का भाव द्योत एकदम जल सा जाता है, और व निःशस्त्रता का नशस एवं विवेकहीन प्रयोग करना आरम्भ करते हैं जिससे

एक ही दिन के प्रथम दो प्रहरों में लगभग एक अश्विहिणी पाण्डव सेना का नाश हो जाता है। आकाश में अनेक पूववर्ती ऋषि मुनि प्रकट हो जाते हैं और द्रोण के द्वारा दिव्यास्त्रों के अमानवोचित एवं निषिद्ध प्रयोग की मत्सना करते हैं—विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, वसिष्ठ, कश्यप आदि ऋषिगण ब्रह्मास्त्र एवं दिव्यास्त्र के अघाघुघ प्रयाग के लिए द्रोण को कहते हैं कि 'तुमने इस प्रकार अधर्म युद्ध को गति दी है, हजारों इंसान, जिनके पास न तो ब्रह्मास्त्र एवं दिव्यास्त्र है और न ही चलाना आता है, तत्कारण मृत के घाट उतर चुके हैं, इस प्रकार का आक्रोशजय भीषण नर-संहार तुम्हारे जैसे ब्राह्मण आचार्य के लिए बिल्कुल ही उचित व शोभनीय नहीं है।

त एनमश्रुवन् सर्वे द्रोणम्बाह न शोभिनम् ।

अधमत कृत युद्ध समयो निघनस्य ते ॥ द्रो ५ 190 35

तव एतद् न उपपद्यते ॥ द्रो ५ 190 37

पर द्रोण ऋषियों के वचनों की अवहेलना कर देते हैं और दिव्यास्त्रों के प्रयोग को और अधिक उग्र, आतङ्कारी तथा विध्वंसकारी बना देते हैं। इसी प्रक्रिया में अजुन भी बह कर दिव्यास्त्रों का भीषण प्रयोग कर सकता था, परंतु उसे अपने 'यायपथ' से विचलित होना स्वीकार्य नहीं होता। उसके भारी पराक्रम और भीम के रण कौशल से अर्वांतराज की सेना विनष्ट हो जाती है, अर्वांतराज का 'अश्वत्थामा' नाम का दिग्गज हाथी मार डाला गया है और आचार्य द्रोण के कानों में इतनी ही सूचना आई है 'अश्वत्थामा मार डाला गया है।' द्रोण का सारा मोह व जीवन अपने पुत्र अश्वत्थामा पर ही केन्द्रित है। अतः इस सूचना से द्रोण एकदम हतोत्साहित और उदास हो उठता है। वह युधिष्ठिर की सत्यप्रियता से पूणतया आश्वस्त है। अतः द्रोण युधिष्ठिर को पूछते हैं कि अश्वत्थामा क्या सचमुच मर गया है ?

यह है प्रसंग जब कृष्ण के प्रबल अनुरोध पर युधिष्ठिर जोर से कह उठते हैं 'अश्वत्थामा हतो' पर साथ ही म-दोच्चार कर देते हैं 'नरो या कुञ्जरो वा'—पिछले शब्द द्रोण सुन नहीं पाते, वे आत्मग्लानि से मर जाते हैं, पुत्रमरण की असह्य व्यथा से मोहाश्रान्त होकर वे मन को सहसा समाहित कर लेते हैं, और पद्मासन पर बैठकर रथ में ही समाधिस्थ हो जाते हैं। घुष्टद्युम्न उत्तीक्ष्ण तीक्ष्ण तलवार से द्रोणाचार्य का मस्तक उड़ा देते हैं। इस प्रकार द्रोणाचार्य का वध और युधिष्ठिर का अरात्य भाषण साहित्यकारों की बहुतम आलोचना का विषय बना है।

विषयवाहिनी बहुतम आलोचना के इस प्रसंग में श्रीकृष्ण के ये शब्द मननीय हैं द्रोण द्वारा दिव्य एवं ब्रह्मास्त्रों के जघन्य अमानुषीय और अधम

जय घोर विघ्नसब एव नर-सहारी प्रयोग से उत्तम इस विपगावस्था में, असह्य वीरो और मनुष्या की जीवन रक्षा के लिए, 'असत्य भाषण सत्यवचन की प्रतिष्ठा-वृद्धता के बही ज्यादा ध्येयस्तर है'—'सत्यात् ज्याय अतवच । अनृत जीवित्तस्यार्थे वदत स्पृष्येऽनते' (द्रोण-मथ, 190 47)— ऐसी बठोर घड़ी में बोला गया अनत (असत्य) वचन पापाजन से स्पृष्ट नहीं होता । मानव जीवन की रक्षा से बड़ा कोई धर्म नहीं हो सकता और यदि असत्य द्वारा एक मनुष्य के मरण से हजारों लाख मनुष्यों को जीवन-दान मिलता हो, तो युधिष्ठिर द्वारा उस त्रिकट विनाश की ममानह विभीषिका में बोला हुआ झूठ जीवन सत्य की पावनतम अचना ही है । लक्ष-लक्ष मनुष्या के जीवन संरक्षण के लिए— विशेषकर जब वे समस्त वीर धर्म का पक्ष लेकर युद्धरत हैं तथा जिनकी रक्षा और सम्भावित जीत से सुन्दर और श्रेष्ठ मानव जीवन के भूल्या की प्रतिष्ठा व वृद्धि होगी—एक द्रोण का अनत से वध सवधा जैसे ही उचित है जैसे पूरे शरीर की रक्षा के लिए, आवश्यकता पड़ने पर, एक फेफड़े या किडनी को भी काट देना जीवनपरक और उचित होता है ।

वधपव युद्ध का 16 या जोर 17 वाँ दिन

महाराथी द्रोणाचार्य और जयद्रथ के मर जाने के पश्चात् दुर्योधन अग राज महाराीर वण का सेनाध्यक्ष पद पर अभिषेक करते हैं । अर्जुन और वण के मध्य सीधा युद्ध होता है । सोलहवें दिन भयंकर युद्ध होता है पर उस दिन अर्जुन प्रबल वेग से सप्तकी का सहार करते हैं, दुर्योधन और अय कौरव वीर भाग लड़े होते हैं, वण की मुठभेड नकुल से होती है, घमासान युद्ध के पश्चात् नकुल घायल हो जाता है, वण उसका वध मात्र इसलिए नहीं करता कि उसने कुंती को वचन दिया था कि पांच पाण्डव अवश्य जीवित रहेंगे— अर्जुन सहित या वण सहित ! सोलहवें दिन के युद्ध में पश्चात् वण के वधने पर महाराजा शल्य उसने रथ के सारथि बनते हैं, क्योंकि शल्य कृष्ण समान रथ संचालन विद्या में अत्यन्त कुशल एवं पटु होते हैं । वण ने पहले भारी पराक्रम दिखाया है, पर आज सत्रहवें दिन स्वयं अर्जुन उसके सामने युद्धरत है । पहले युद्ध भीम से होता है । भयंकर पराक्रम से भीम कौरव सेना का ही नाश नहीं करता, अपितु अपने तीव्रगामी एवं प्रबल बाण प्रक्षेपण से वण को मूर्च्छित कर देता है । शल्य वण को मूर्च्छा में देकर रथ को भगा ले जाते हैं । वण का रथ अदृश्य होते ही भीम कौरवों पर टूट पड़ता है । दुर्योधन दुःशासन को भीम के वेग को रोक्ने के लिए भेजता है । भीम इसी क्षण के लिए आतुर है, द्रौपदी के घोर अपमान का बदला लेने का समय आ गया है । भीम अपनी गदा सम्हालता है और दुःशासन के साथ गदायुद्ध शुरू हो जाता है । प्रथम अवसर

मे ही भीम के भीषण गदाघात से दु शासन अचेत हो गिर पडता है, भीम उससे हाथ एक ही क्षटके से उखाड लेता है, और उसकी छाती फाड कर रक्त पीना आरम्भ कर देता है । इस तरह भीम अपनी प्रथम प्रतिज्ञा पूरी करता है जो उसने घृतराष्ट्र की धूत सभा मे दु शासन द्वारा द्रौपदी को निवस्त्र करने के दु सहा अपमान के समय की थी । भीम की विकराल भूक्ति को देख कर कौरव सेना भाग खडी होती है ।

उधर कण की भूच्छा टूटती है और उसे दु शासन की मृत्यु का समाचार मिलता है । अभी दिन बहुत रोप है, अत कण पुन रथासीन होकर युद्धाय आता है, युधिष्ठिर से मुठभेड होती ह, कण के भीषण और अपमानजनक प्रहार से क्षुब्ध और घायल युधिष्ठिर को उनका सारथि रणभूमि से ले भागता है । उधर अर्जुन मसप्तको की सेना का सहार करते हुए लौट आने पर, युधिष्ठिर के रथ को युद्ध क्षेत्र मे न देखकर, वह उनके शिविर मे जाता है । दोनो भाइयो मे परस्पर झडप हो जाती है, अर्जुन अपने गाण्डीव धनुष का अपमान नही सह सकता और युधिष्ठिर कण के आघातो से पीडित शय्या पर पडे अर्जुन और उसके धनुष को धिक्कारने मे कोई कसर नही उठा रखते । अत तोगत्वा, कृष्ण के बीचवचाव से अजुन स्वययेष्ठभ्राता से क्षमायाचना करते हुए कण के साथ युद्ध करने चल पडता है ।

घमासान युद्ध होता है, दोनो मित्र मित्र अस्त्रा का प्रयोग करते हैं, दोनो महाधनुर्धारी है, महाविनाग का ताण्डव नृत्य होन लगता है । कण क्रोधावेश मे 'आग्नेय' अस्त्र फेंकते हैं जिससे पाण्डव सेना अग्नि वर्षा से जलन व भस्म होने लगती है, तुरन्त ही अर्जुन 'वर्ण' अस्त्र छोडते हैं जिससे मेघो का शीघ्र निर्माण और जल वर्षण होन से अग्नि शांत हो जाती है । कण का आक्रोश बढ़ने लगता है और वह 'वायव्य' अस्त्र का प्रयोग करता है, जिससे मेघ छिन्न विछिन्न हो जाते हैं और आकाश मे आधी छाने लगती है, अर्जुन के 'नागास्त्र' द्वारा कौरव सेना भयात्रात मान होती है । कर्ण 'गरुडास्त्र' द्वारा नागास्त्र के प्रभाव को समाप्त करके पाण्डव सेना को अतुल क्षति पहुँचान लगता है । अर्जुन के पास 'नारायणास्त्र' है जिसके प्रयाग से कण और कौरवो की सेना का सत्नाल नाश हो सकता है, परन्तु इस दिव्य अस्त्र का प्रयोग मनुष्य युद्ध मे वर्जित है । द्रोण ने दिव्यास्त्रों के प्रयोग से पाण्डवो की एक ही प्रहर में एक अक्षीहिणी सेना को नष्ट घट्ट कर दिया था, परन्तु अर्जुन इस दिव्यास्त्र के विनागकारी प्रयोग के लाभ का सवरण करके अपन मातृवीय जीवन दृष्टि का परिचय देता है । यह कण को मानवी युद्ध से ही जीतना चाहता है । अत अवसरोचिा घँय के साथ यह अचिन्त्य कौशल, हस्तलापय और तीव्रगति म तीक्ष्ण वाण वषा द्वारा

कण और उसके साथिया को विचलित कर देता है। हतोत्साह से विवश कण पुनः दिव्यास्त्र का प्रयोग सीधा अर्जुन पर करता है, परन्तु बाण छूटते ही कृष्ण ना द्रघोप के घोड़ा को एक दम नीचे झुका लेते हैं और वह दिव्यास्त्र रथ के ऊपर से अर्जुन के मुकुट को छूता हुआ निकल जाता है। अर्जुन का गाम्भीर्य और धैर्य इस समय दशनीय होता है। यह बच जाता है और तुरन्त कण पर अविचल गति से शरानुसंधान द्वारा प्रखर प्रहार कर उठता है। कण के पाँव उखलने लगते हैं, धैर्य टूटता जाता है, और अघोरता के क्षणा में वह परशुराम से सीधी हुई शस्त्र विद्या भूलन लगता है। अर्जुन का और प्रहार होता है और हृदयवाहक में कण के रथ का पहिया युद्ध भूमि में रक्तकीच से फिसलकर घँस जाता है। और कण उच्च स्वर में अर्जुन को सम्बोधित करके कहता है

भो मा पाय महश्चास मुहूर्त्तं परिपालय ।

यावच्चक्रमिदं प्रस्तमुद्धरामि महीतलात् ॥

कणपव 90 108

हे महेश्वास, पाय ! दो घड़ी रुको। तब तब मैं इस फँस हुए रथ चक्रयाने पहिये को पृथ्वीतल से निकाल लूँ। 'तुम तो धम युद्ध की मर्यादा से परिचित हो, वेदांत का स्वाध्याय रूपायन करके तुम उसमें अवभृयस्नान कर चुके हो—'अग्निना युद्धघर्माणा वेदान्ताव मृषाप्लुत' (कणपव, 90 114)। अतः जब तक मैं पहिये को घरती से मुक्त कर लूँ तब तब प्रतीक्षा करो।

धम की दुहाई देन वाले कण को सम्बोधित करते हुए तत्क्षण कृष्ण बोल पड़ते हैं 'कव ते धमस्तदा गत ?'—अरे कण ! उस वक्त तुम्हारा धम कहाँ चला गया था जब तुमने तथा दुर्योधन, दुःशासन और सुबल पुत्र शकुनि ने एक वस्त्रा और रजस्वला द्रौपदी को बलात् सभा में बुलवाया था, जब कौरव सभा जूए के खेल का नाम न रखने वाले राजा युधिष्ठिर को शकुनि ने जान बूझकर छल-पूर्वक हराया था, जब वनवास का तेरहवा वष बीत जाने पर भी तुमने पाण्डवा का राज्य उन्हे वापस नहीं दिया था, जब राजा दुर्योधन ने तुम्हारी ही सलाह लेकर भीमसेन को जहर मिलाया हुआ अन्न खिलाया और गंगा के भीषण प्रवाह में हत्याथ फेंक दिया था, जब मरी सभा में दुःशासन द्वारा बलेशास्त्रात् द्रौपदी को निलज्जता से नगा करते हुए अपमान और उपहास की दृष्टि से तुमने उसे देखा था, जब तुमने युद्ध में बहुत से महारथियों से मिलकर अधम से चक्रभ्रूह भेदन कर देन वाले अर्जुन पुत्र वीर अभिमन्यु की निममहत्या की थी (कणपव, 91 2 12)— उस समय तुम्हारा धम कहा गया था ? —'कव ते धमस्तदा गत ?'

कृष्ण के व्यग्रपूण सत्य वचन सुनते ही कण का सिर लज्जा से झुक जाता

है और यह सबया निरुत्तर हो जाता है—'लज्जयावमता भूत्वा तस्मिन् त्रिञ्चि दुस्तत्रा'। उभी क्षण वृष्ण अर्जुन को कण पर गाराघात हेतु उत्प्रेरित करते हैं और दोनों धनुषरो म धोर युद्ध होता है। अन्ततोगत्वा अञ्जलिक नामक वाण से अर्जुन कण का शिरोच्छेदन कर देता है। धरती पर गिरते गिरते कण की देह से एक तेज निकल कर आकाश म फैल जाता है और ऊपर उठकर सूप मण्डल मे, सब के दृश्यते देखते, घिसीन हो जाता है।

कर्ण का मर गिरना दुर्योधन के आश्यासन-स्तम्भ का दूट गिरना है। पाण्डवों का सबसे बड़ा भाई और बुन्ती का प्रथम पुत्र होने पर भी वह सूतपुत्र और राधानन्दन की सजा से मण्डित रह कर मरना ही कर्ण को ध्येयस्वर लगता है। कृतमता का मात्तण्ड अस्ताचल मे लुढ़क जाता है। दुर्योधन की आत्म सजीवनी दिनष्ट हो जाती है। कुली की जीवन-लता प्रथमकोतेय के मर जाने की सूचना मात्र मे पश्चाताप की अग्नि मे सूख सूख जाती है और पाण्डवों को, अत्येष्टि कम करने के समय पर, तपण द्वारा कण के लिए जलदान का आदेश देती है। यही कण की वारुणिक कथा का अभिप्रेक होता है।

शल्य और सीप्लिक पथ महाभारत युद्ध का अंतिम दिवस

कण के गिरते ही दुर्योधन शोक सागर मे डूब जाता है, हिम्मत हार जाता है परन्तु राज्य का लाम उसके हृदय म अभी भी प्रबल है। कृपाचाय उसे सचि द्वारा युद्ध रोकने के लिए सुझाव देते हैं और कहते हैं कि ग्यारह अष्टोत्थिणी सेना मे बहुत थोड़ी सेना जीवित बची है, उसके (दुर्योधन के) सभी भाई मार डाले गये हैं सभी महारथी भी कात कपलित हो गये हैं। परन्तु दुर्योधन को सचि स्वीकार्य नहीं होती, वह यह उठता है— अभी आप हैं, अश्वत्थामा है, कृतवर्मा है, मामा शल्य है, मैं स्वयं हूँ। मैं चाहता हूँ कि कल से महारथी मद्रराज मामा शल्य हमारे सेनापति बनें।

शल्य के सेनापतित्व मे अठारहवे दिन का महाभारतीय युद्ध शुरू होता है। महारथी शल्य से युद्ध करन स्वयं धमराज युधिष्ठिर आते हैं, अर्जुन सप्तर्षियों के साथ बार भीम कृपाचाय से मोर्चा लेते हैं। शल्य की सहायताय अश्वत्थामा सबथा तत्पर है, युधिष्ठिर के साथ घृष्टद्युम्न, सात्यकि आदि रहते हैं। मयकर युद्ध होता है दानो और से। अतताग वा युधिष्ठिर के द्वारा एक घातक शक्ति के प्रयोग द्वारा महारथी शल्य युद्ध मे मार दिये जाते हैं। पाण्डव जय-यात्रा म उत्तरोत्तर आगे बढ़ते जाते हैं।

चौरथ सेना मागने लगती है। उसी समय स्वयं दुर्योधन के आते ही मागतो हुई से तीट पडती है। उधर सहदेव खूब पराक्रम दिखाता है और अपनी प्रतिगानुमार शकुनि के पुत्र 'उदूर' और शकुनि को मार गिराता है, चौर

इधर दुर्योधन अपनी सारी सेना के महार का देस कर भयभीत हो जाता है, माग कर दूर सरोवर में एक वृक्ष स्तम्भ के पीछे छिपने हेतु शरण लेता है। भीम पीछे पीछे आता है। बिना दुर्योधन को जीते व मारे पाण्डवों की जय यात्रा पूरी नहीं हो सकती।

वलराम वहाँ आ पहुँचते हैं वृष्ण भी। मल्लयुद्ध होता है। भीम नियम-विरुद्ध दुर्योधन की जाघ पर गदाघात कर देता है। फलतः दुर्योधन की जाघ टूट जाती है। भीम उसके मस्तक पर प्रहार करता है। वलराम भीम पर क्रोध करते हैं, बयोवि उसने दुर्योधन की जाघ पर प्रहार करके धमनीति का उल्लंघन किया है। 'ववतस्य धमस्तदा गत' कह कर वृष्ण उह समझाते हैं। द्रौपदी के चीरहरण के समय दुर्योधन ने अपनी जाघ उधाड़ कर दिखाई थी और भीम ने प्रतिज्ञा की थी कि युद्ध में जाघ पर प्रहार द्वारा ही दुर्योधन का वध करेगा। वृष्ण के इस बीच बचाव से वलराम चले जाते हैं। भीम, वृष्ण आदि सभी पाण्डव भी वहाँ से चले जाते हैं। दुर्योधन मरणासन्न रण भूमि में पड़े हैं, अश्वत्थामा आता है और प्रतिज्ञा करता है कि वह येनवेन प्रकारेण पाण्डवों का निश्चय ही वध कर डालेगा। सूर्यास्त हो चुका है, युद्ध बन्द है।

अश्वत्थामा की प्रतिज्ञा से प्रोत्साहित होकर दुर्योधन उसे शीघ्र नया सेनापति घोषित कर देता है। प्रतिशोध की अग्नि में घबकता हुआ अश्वत्थामा, कृपाचाय और वृत्तब्रमा रात्रि समय पाण्डवों के शिविर के पास एक वृक्ष तले पाँचों पाण्डवों के वध का उपाय सोचने लगते हैं। उसी समय वह देखता है कि उल्लू सा एक पक्षी आया और पेड़ पर नींद में सोये बीजा को खटाक से एक एक कर मार डालता है। उपाय समझ में आ जाता है, सीना पाञ्चालों के शिविर में चुपके-से प्रवेश करते हैं पलंग पर गहरी निद्रा में सुप्त घण्टद्युम्न की निमम हत्या करके अश्वत्थामा अपने पिता द्रोण का बदला लेता है। फिर शीघ्र वहाँ से वह पाण्डवों के शिविर में घुस जाता है और वहाँ सोते हुए पाँच पाण्डवों की मार कर उनके गटे पाँचा मस्तक को हाथ में लेकर वह खुशी में उछलता हुआ दुर्योधन के पास पहुँचता है। पाण्डवों के वध का समाचार स मतप्राय दुर्योधन के नेत्रों में ज्योति जगमगा उठती है। वह भीम का मस्तक मागता है, देखने पर लगता है कि वे पाँचों मस्तक द्रौपदी के पाँचों पुत्रों के हैं न कि पाँचा पाण्डवों के। क्षोभ और ग्लानि से दुर्योधन का प्राणांत हो जाता है।

दुर्योधन के देहावसान के साथ ही महाभारत का युद्ध समाप्त हो जाता है। कौरवों के सधनाश और पतन के साथ ही पाण्डवों की जय तो प्रतिष्ठित हो जाती है, परन्तु पाण्डवों की जय यात्रा अभी पूणतया सम्पन्न नहीं होती।

अश्वत्थामा के प्रति भीम का आक्रोश नगारोहण करने लगा है, और वह

उसे खोजने निकल पड़ता है। श्रीकृष्ण की चिंता बढ़ जाती है क्योंकि अश्वत्थामा स्वात्म रक्षण की ओट में उस 'ब्रह्मशिरा' महास्त्र के प्रयोग में तनिक भी धर्माघम का सोच व मकोच नहीं करेगा जिससे भीम अवश्य ही काल कवलित हो सकता है। अतः युधिष्ठिर और अर्जुन को साथ लेकर, रथास्टह हो, अत्यन्त तीव्र गति से वे भीम के पीछे उड़ पड़ते हैं। जा कुछ बाद में होता है उसमें अश्वत्थामा के अविवेकपूर्ण 'ब्रह्मशिरास्त्र' के प्रयोग के फलस्वरूप अर्जुन को अपने ब्रह्मास्त्र का निश्छल प्रयोग करना पड़ता है। वद-यास सवनाश से शेष सभी की रक्षा करने की बालोचित एवं घममय मानवीय दृष्टि से बीच बचाव करते हैं। अश्वत्थामा को अपने प्राणा की रक्षा हेतु स्व-मस्तक में जड़ित उस 'मणि' को पाण्डवों के प्रति समर्पित करना पड़ता है जो उसकी सारी शक्ति तेज और अजेयता का दिव्य स्रोत हाती है। मणि देते ही वह अत्यन्त निबल, निस्तेज और निरुत्साही हो जाता है। महा-मनस्वी व्यास के आश्रम का अन्ते यासिन बन कर एक तपस्वी का जीवन यापन ही अश्वत्थामा का अब भाग्य बन जाता है।

इस प्रकार महाभारत के भीषण समर की इतिथी के साथ ही मानव की महाकाव्यात्मक वर्णित जय यात्रा का प्रथम सोपान समाप्त हो जाता है।

मानव की जय यात्रा का चरम सोपान

मानव की जय यात्रा के द्वितीय एवं चरम सोपान का सम्यक एवं समग्र दर्शन 'महाभारत' के 'स्वगारोहण' सनक अन्तिम पर्व में होता है जिसमें प्रवेश 'महाप्रास्थानिक' नामक सत्रहवें पर्व रूपी द्वार से करना पड़ता है।

कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात् धृतराष्ट्र और गांधारी पंद्रह वर्षों तक हस्तिनापुर में जनक राजा की तरह वीतराग होकर रहते हैं और फिर वे दोनों विदुर और कुन्ती सहित वन में तपस्याथ प्रस्थान कर जाते हैं जहाँ उनकी जीवन लीला समाप्त हो जाती है। युधिष्ठिर, वेद-यास और कृष्ण की मन्त्रणा से, अश्वमेध यज्ञ द्वारा भारत में घम, यास और मानवता का एक छत्र राज्य स्थापित करते हैं। श्रीकृष्ण भी तदनन्तर द्वारिका में जाकर यादवों के, गांधारी शापानुसार, सबस्वनाश की लीला देख कर प्रमासतीथ में विचार मग्न विराम करते हैं। वहाँ एक दिन 'जरा' नामक व्याध द्वारा हरिण के ध्रम में चलाये गये तीर से कृष्ण का पद तल आहत हो जाता है और वे अगाध शान्त भाव से व्याध को आश्वस्त करते हुए दुर्गासा ऋषि के शापानुसून, समाधिस्थ हो जाते हैं। उनकी जीवन लीला समाप्त होने की सूचना से युधिष्ठिर समेत सभी पाण्डव अभिमन्यु पुत्र परीक्षित को सम्राट के पद पर अभिषिक्त करने, अपने आत्म शास्राज्य में प्रवेशाथ द्वारिका की तीर्थयात्रा करते हुए हिमालय की ओर

प्रस्थान करते हैं। जागतिव जीवन की जय-यात्रा पूरी हो चुकी है, आध्यात्मिक जीवन की जय यात्रा में युधिष्ठिर के साथ एक स्वाभिन्न श्वान भी है। यात्रा अत्यन्त दुष्कर है, कठिन और लम्बी। ज्यो ज्यो हिमालय में वे आगे बढ़ते जाते हैं, त्यो-त्यो हिमपात भी भीषण होता जाता है। हिमपात के बाधक से यात्रा दुर्गम और अधिक दुष्कर हो जाती है। गति में शिथिलता बल पकड़ लेती है, और माग में अनेक अवरोध आने लगते हैं। आरोहण के काठिन्य को सहन कर सकने के कारण द्रौपदी गिर पड़ती है, उसके प्राण पमेरू उड़ जाते हैं। भीम युधिष्ठिर को पूछते हैं कि प्रभावती, पतिव्रता, संवापरायण और वृष्णिप्रिया द्रौपदी किस दोष के कारण माग में ही गिर कर मर गई है। 'पक्षपातो महा नस्या विशेषेण घनञ्जये' अर्थात् उससे मन में अजुन के प्रति अपेक्षाकृत अधिक भुकाव या पक्षपात पूर्ण व्यवहार था, 'तेन दोषेण सा पतिता', इस दोष के कारण वह गिर कर मर गई है। ऐसा युधिष्ठिर उत्तर में कहते हैं। सब आगे बढ़ते रहते हैं। परन्तु माग की उत्तरोत्तर दुर्गमता एवं अपन अपने दोषों के कारण रास्ते में चलते चलते क्रमशः महदेव, नकुल, अर्जुन और भीम भी गिरते जाते हैं और उनका उसी क्रम में देहावसान होता जाता है। हरेक के गिरने व मरने पर भीम युधिष्ठिर को वही प्रश्न दोहराते हैं—'केन दोषेण सा पतिता ?' और उसके प्रत्युत्तर में युधिष्ठिर हरेक के उस दोष का उल्लेख करते हैं जिससे उसका पतन व मरण माग में ही होता है। सहदेव के गिरने का कारण यह है कि वह 'आत्मन सदृश प्राप्त नैपोऽमयत कञ्चन' दोष से ग्रसित है, वह अपने समान प्रज्ञावत अथ किसी को नहीं मानता है। नकुल के मन प्रदेश में यह बात जम गई है कि उसके रूप सौन्दर्य के सदृश अथ कोई नहीं है—'रूपेण मत्समो नास्ति इत्यस्य मनसि स्थितम्।' अर्जुन एक मात्र मिथ्या भाषण की पुनरावृत्ति के दोष से गिरता है, उसने दोहराया है कि वह 'एक ही दिन में समस्त पाशुआ को मरम कर देगा' और वह ऐसा कभी कर नहीं सका—'एकाह्ना निदहेय व पाशू इत्यर्जुनाऽब्रवीत्।' स्वयं भीम के लिए युधिष्ठिर कहते हैं कि तुम 'अति भुवत', अतिभोजी ही नहीं, अपितु अपना शौर्य की आत्म प्रशंसा के दोष से गिरे हो। ये सभी दोष अहंकार के ही मृदु किन्तु भिन्न रूप हैं, इन पंच-दोषों में पक्षपातपूर्णता सबसे बड़ा दोष है, फिर प्रज्ञाजय दप, रूप-दर्प, मिथ्या भाषण में अत्यल्पमेव रति, अतिभोजी व बलवान् होने का आत्म गौरव उत्तरोत्तर यूनता वाले दोष होने पर भी पतनकारक हैं।

युधिष्ठिर इन समस्त दोषों से विनिर्मुक्त हैं और आनृत्स्य भाव में पूर्ण-तया प्रतिष्ठित होने के कारण अपनी जीवनजयी यात्रा में देह पूर्ण कर लेते हैं। हिमालय के उत्तम एवं परम पावन शिखर पर देवराज इंद्र एक दिव्य और

ज्योतिमय रथ लेकर उपस्थित होत है और युधिष्ठिर को स देह स्वर्ग म चलन हंतु रथासीन होने का निवेदन करते हैं । युधिष्ठिर यह उठते हैं कि बिना भाइयो को साथ लिए वे स्वर्ग की कामना ही नहीं कर सकते— 'न बिना भ्रातृभि स्वर्गमिच्छे' (17 3 3) । इंद्र के यह बतलाने पर कि द्रौपदी सहित सभी पाण्डव पहले से ही स्वर्ग म पहुँच चुके हैं, युधिष्ठिर अपने साथ बिना गिरे यात्रा सम्पन्न करने वाले श्वान को रथासीन होने देने की देवेन्द्र से सानु नय विनय करते हैं कि 'हे भूत और भविष्य के स्वामी यह श्वान सदा मेरे साथ पूण विश्वास और भक्ति सहित रहा और यहा तक आया है, मेरी ऐसी मायता है कि मेरी आनृशस्यावृत्ति के अनुकूल यह कुत्ता भी मेरे साथ रथासीन हाकर स्वर्ग मे प्रवेश करे ।

अथशवा भूत भव्येश, भक्तो मा नित्यमेव ह ।

स गच्छेत भया साधमानृशस्या हि मे मति ॥

महाप्रयानिकपव 37

देवेन्द्र के मना करने पर युधिष्ठिर स्पष्ट कहते हैं कि शरणागत एव भक्त का मार्ग मध्य त्याग कर देना 'महापाप' कहा गया है— 'भक्त त्याग प्राहुरत्यन्त पापम्', इतना ही नहीं, भक्त को बीच मे लटका देना लोकदृष्टि मे वस्तुतः ब्रह्महत्या' तुल्य माना गया है— 'तुल्य लोके ब्रह्मवध्या कृतेन' (तदेव, 17 3 11) ।

युधिष्ठिर द्वारा प्रस्तुत इस प्रकार की विनयशील युक्त आनृशस्य वाणी को सुनते ही देवेन्द्र प्रसन्न हो उठते हैं और उहे कहते हैं कि हे, युधिष्ठिर ! भरतश्रेष्ठ ! तुम अपनी इसी शुद्ध सात्विकता के कारण दिव्य एव अति उत्तम गति को प्राप्त हुए हो— 'प्राप्तोऽसि भरतश्रेष्ठ दिव्या गतिमनुत्तमाम् ।' इन शब्दों के साथ देवराज इंद्र युधिष्ठिर को रथाखड होने के लिए कहते हैं, और वह श्वान, जो छद्मवेश मे साक्षात् धम ही हैं अपने असली रूप म प्रकट होकर युधिष्ठिर को साधुवाद देते हैं ।

अब युधिष्ठिर देवराज के साथ स्वर्गारोहण करते हैं । वहाँ उह समस्त कौरवों के ता दशन होत ह, परंतु अपने पाण्डव भ्राताओं आदि के दशन नहीं हात । आश्चर्यावित भाव से वे इंद्र की निवेदन करते ह कि जहाँ वही शुभ अथवा पापमय स्थान मे उनके सभी भाई ह, उन्हें वहाँ ही ले जाया जाये, उन्हें अब कोई कामना नहीं है—

शुभ यदि वा पाप भ्रातृणा स्थानमथ मे ।

तदेव प्राप्तुमिच्छामि लोभानमाप्तकामये ॥

तत्र 17.9 31

इन्द्र उह कहत हे कि 'क्या अभी तक तुम्हारा मानुषी भाव समाप्त नहीं हुआ है—'अद्यापि मानुषो भाव स्पृशते त्वा नराधिय' (तदेव, 17 3 35)? अरे, यह ता स्वर्ग है, यहाँ पर अब ऋषियो, स तजना और महासिद्धो आदि का दर्शन करके अपने आपको दिव्य जीवन लाभ से कृतकृत्य करो। परंतु युधिष्ठिर के साम्ह अनुरोध पर इंद्रादेशानुसार एक देवदूत उह उस ओर ले चलता है जहाँ उनके भ्राता आदि होते हैं। वह माग अत्यंत दुःख, दुःख-पूरित और अशुभ दृश्यो से भरा हुआ होता है—'पयामशुभ दुर्गं दुर्गधमशिव लोमहृषणम्'। उस वीमत्स माग के मध्य मे से बहुत प्रवार के चिंता भावो से विचार करते हुए युधिष्ठिर आगे बढ़ते हैं। उसी समय उह द्रौपदी, भीम और अर्जुन का आतनाद एव वरुण ऋद्धन मुनाई पडता ह। वे कट्टण पुकार करने लगे—'भो भो धमज राजप'—हे धमपुत्र ? भरत श्रेष्ठ ! हम पर अनुग्रह करके आप दो घडी तो यहाँ रुक जाइये। आपके आने मात्र से हमें इस घोर तरक की यातना भी सह्य और शीतल अनुभवगम्य हो रही है। कृपया आप कुछ रुक जाइये—'अनुग्रहायमस्मा व तिष्ठ ताव मुहृत्तकम्' (तदेव, 18 2 32)।

यह सुनकर क्षाम और ग्लानि से भरे युधिष्ठिर देवदूत को कहते हैं—'भरे इन बाघवो ने ऐसा कौनसा पाप किया है कि उह नरक की यह दारुण यातना भोगनी पड रही है। तुम जाकर देवेन्द्र से कहा कि मैं यहाँ से वापस नहीं जाऊंगा। मैं यहीं रहूंगा। मेर कारण ही तो भेरे भाई और द्रौपदी की यह दुःखति हुई है। मैं इनके साथ यहीं रहूंगा।'

कुछ क्षण युधिष्ठिर वही खडे रह जाते है। तत्काल इंद्रसहित धमराज चहा आते हैं। उनके आते ही चहु ओर प्रकाश छा जाता है, वीमत्स दृश्य तिरोहित हो जाते हैं, शीतल सुगन्धित वायार चलने लगती ह। युधिष्ठिर को सम्बोधित करत हुए धमराज बोल पडते हैं—एपा तृतीया जिनासा तव राजन् मया वृतम्—'हे, राजन। हमने तीसरी बार तुम्हारी परीक्षा ली है। अपने वा घवो के लिए तुम नरक मे भी रहने के लिए तैयार हो। यह देखकर हमे बडी प्रसन्नता हुई है। पृथ्वी के राजाओ को नरक की यातना अवश्य देखनी चाहिए। इसी कारण तुम्ह कुछ ही क्षणो के लिए यह नरक भोगना पडा। प्रसिद्ध वीर अर्जुन, भीम, इन्द्रप्रती वर्ण आदि तुम्हार भाइया मे से कोई भी नरक नहीं पहुँचा है। यह तो तुम्हारी परीक्षा के लिए रची गई माया है।'

व्याजेन हि त्वया द्रोण उपचीण सुत प्रति।

व्याजेनैव ततो राजन् दर्शितो नरकस्तव ॥ 18 3 15

'हे राजन् ! अमन से ही तुमने द्रोण के हृदय मे उसके पुत्र के प्रति मर जान का भ्रात भाव फलाया था। अत अमन और परोक्ष से ही तुम्ह इस नरक का

दशन कराया गया है। वस्तुतः यही देवलाक है, तुम दुःखी न होना। अब तुम यही मेरे साथ विहार करो— 'विहारस्व मया साध्वं गतशोको निरामय'। यह देखो, पुण्य सलिला देवनदी आकाशगङ्गा है यहा। इसके पवित्र जल में स्नान कर लेने पर तुम्हारा मानव स्वभाव दूर हो जायेगा— 'अत्र स्नातस्य भावस्ते मानुषो विगमप्यति' (18 3 29)।

धमदेव के ऐसा कहने पर राजपि युधिष्ठिर मुनिजनवन्दित परमपावन पुण्य सलिला आकाशगङ्गा में स्नान करते हैं जिससे तत्काल उनका मानव शरीर छूट जाता है, उन्हें 'दिव्य वपु' प्राप्त होता है (18 3 42) और उनके स्वभाव में दिव्यता की स्थायी प्रतिष्ठा हो जाती है। तुरन्त वे दिव्यलोक में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस दृष्टान्त से स्पष्ट है कि युधिष्ठिर की तरह पुरुषाय माग पर चलने वाला कोई भी धमनिष्ठ मानव श्रेष्ठ एवं नरोत्तम भले ही बन जाये पर कहीं न कहीं कभी न कमी जीवन सघष के अति कठिन काल में मानवीय दुबलता वगैरह वह टूटि कर सकता है। नहीं तो दिव्यलोक में प्रवेशाय युधिष्ठिर की आकाश गंगा में निमज्जन द्वारा 'दिव्य वपु' प्राप्ति की क्या आवश्यकता थी।

दिव्यलोक में प्रवेश करने पर युधिष्ठिर ब्रह्मरूप श्रीकृष्ण के दिव्याति-दिव्य चतुर्भुज रूप का दर्शन करते हैं— 'ददश तत्र गोविन्द ब्राह्मणव पुषाचितम्' (18 4 2)। वहीं अर्जुन मधुसूदन श्रीकृष्ण की आराधना में सलग्न है, ऐसा युधिष्ठिर स्पष्ट देखते हैं। यह समर्पण माग की महिमा है। नर नारायण रूप को-तेय और कृष्ण युधिष्ठिर का दिव्याभिनन्दन करते हैं। वही पर द्वादश आदित्यो के साथ तेजोमय रूप धारण किये हुए कण भी विराजमान है, मरुद्गणा से घिरे हुए कान्तिमान भीम वायुदेव की दिव्य सन्निधि में बैठे हैं, स्वतेज से उद्दीप्त नकुल और सहदेव अश्विनीकुमारा के समीप आसनस्थ हैं, पद्ममाला से अलङ्कृत दिव्य पाञ्चाननी द्रौपदी भी सूयवत् प्रकाशित होती हुई वहाँ की शोभा का वर्णन कर रही है। वहाँ भीष्म वसुधो के साथ, द्रोणा चाय, वृहस्पति के साथ विराज रहे हैं। इस प्रकार युधिष्ठिर सभी वाचवा, वृष्णा और कृष्ण के दिव्य दर्शन से मुग्ध आर प्रसन्न होते हैं।

जनमेजय की जिज्ञासा की भाँति, कोई भी यह प्रश्न उठा सकता है कि 'क्या युधिष्ठिर समेत पाण्डवा और द्रौपदी को वहाँ अयम पद एवं सनातन लोक की प्राप्ति हुई थी? अथवा उस स्वर्ग की जहाँ पुण्य क्षीण होने पर पुनः मृत्युलोक में आना पड़ता है? — का ते गति प्राप्ता? वहाँ स्वयं महर्षि वेदव्यास का यह वचन पर्याप्त एवं मननीय है। उनका मत यह है— 'कमणा मते प्रविशति श्रिका तनुम्' (18 5 11) अर्थात् वे सभी कमभोग के पश्चात्

अततो गत्वा अपने मूल स्वरूप में मिल गये हैं।

यह मानव की जय-यात्रा का पूरा स्वरूप है। भीष्मपर्व की अन्त पाती श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण का परम वचन है—'ममैवाशो जीवलोके जीव भूत सनातन' (157), अर्थात्, यह जीव मेरा ही सनातन अंश है जो इस लोक में अपने मन एवं बुद्धि को फलाकाशी और विषयासक्त करके जगत् के जड़ पदार्थों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता हुआ जय से पराङ्मुख और वञ्चित रहता है। परन्तु जो मनुष्य अपने मन और बुद्धि से केवल सत्य का धरण करने की दृढ़ धारणा से अपने जीवन में विचार एवं व्यवहार को संयोजित करता है, वह समय पत्रने पर अपने ही अन्दर निहित अनन्त सज्जन शीलता और पोषण की परिपूर्णता का साक्षात्कार कर लेता है। मनुष्य की यही अद्भुत शक्ति एवं विलक्षणता है कि ज्यो ज्यो वह अपने भावा की सकीर्णता और विचारों की क्षुद्रता को हृदय की अथाह गहनता और विराट् चिन्तन शीलता की बलिवेदी पर योछावर करने का सहज यौगल अर्जित करता जायेगा, त्याग्यो वह जीवन को अविचल धैर्य, निश्चल क्षमा, सज्जग विवेक एवं विमल वैराग्य से अभिषिक्त करता हुआ अपनी आत्मा के अखण्ड आलोक से तादात्म्य कर लेगा, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जायेगा, और फलतः मानवता के अक्षय स्रोत के रूप में उसकी जीवनधारा प्रस्फुटित हो जायेगी। उसका जीवन 'ईश्वर जीव अश अविनाशी चेतन, अमल, सहज सुख रागि' के ज्वलत उदाहरण के रूप में व्यञ्जित होता रहेगा।

जैसे सागर का जल उसकी लहर से अभिन्न और तद्रूप है, उसी तरह नर और नारायण की अभिन्नता सहज सिद्ध है। अज्ञान के कारण ही नर अपने नारायणत्व का, अर्थात् अयय, अमल, चेतन, सच्चिदानन्द स्वरूप को, विस्मृत किये हुए है। नर मात्र नारायण का ही रूप है। इस स्वरूप सिद्धि में ससार का मोह ही बाधक है, सत्यानुराग ही साधक तत्त्व है। यही महाभारत में मानव की जय यात्रा का सार है।

निस्तदेह, नारायण प्रत्येक नर के भीतर की स्वभाव सिद्ध समावना है।

इस समावना की यथाथ परिपूर्ति हेतु मानव का 'धनुर्वर' की तरह समपण बुद्धि से एकनिष्ठ एवं सततोद्यमी होकर या 'धमराज' की तरह आनन्दस्यता के सर्वात्मभाव को पूरा पुरुषार्थ द्वारा नित्य स्व जीवन में चिन्तन और आचरण के प्रत्येक स्तर पर व्यञ्जित और पोषित करते हुए नारायण के अनन्त और अव्यय भाव में प्रतिष्ठित हो जाना है। यही नर का नारायण में

उज्जीवन है, व्यास प्रणीत 'सत्यमेव जयते' का ध्वजारोहण है, मानव की जय यात्रा की अनन्त इति-थी का रहस्योद्घाटन है ।

यत्र योगेश्वरो वृष्ण यत्र पार्थो धनुधर ।
तत्र श्रीविजयोभूति ध्रुवानीतिमतिमम ॥

— ओमिति —

